प्रस्थानत्रयी

और

अद्वैत वेदान्त

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त
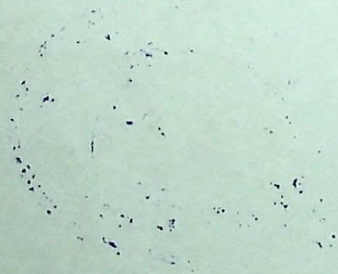
प्रस्थानत्रयी

और

अद्वैत वेदान्त

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

वैदिक प्रकाशन, नई दिल्ली-११०००१

भूमिका

विद्वद्गोष्ठियों एवं साधारणजनों की बातचीत में भी जब कभी वेदान्त की चर्चा सुनी जाती है तो सर्वप्रथम सहसा अद्वैत की भावना मस्तिष्क में उभर आती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो वेदान्त और अद्वैत का नैसर्गिक गठजोड़ हो। अद्वैत भी वेदान्त को छोड़ना नहीं चाहता, और वेदान्त भी अद्वैत के बिना अपूर्ण रह जाता है, अथवा नग्न जैसा दिखाई देता है।

वेदान्त की अद्वैत भावना वास्तविक एवं मौलिक है, अथवा साम्प्रदायिक विचार-विभिन्नता के कारण इसने जन्मलाभ किया? इसका एकटूक निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। 'वेदान्त' पद से अध्यात्म विषय का प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद्-ग्रन्थों का ग्रहण होता है। मनीषियों की मान्यता है कि अध्यात्म, अधिभूत आदि सभी सत्य विद्याओं का ऋगादि वेदों में कथन हुआ है। विभिन्न ऋषियों ने वहीं से अध्यात्म-सम्बन्धी रहस्यों को समझकर सर्वजनप्रिय रुचिकर पद्धति से जिस रूप में विवृत किया, उन्हीं रचनाओं व ग्रन्थों को 'उपनिषद्' नाम से कहा जाता है।

ऋषि अपने प्रतिपाद्य विषय के साक्षात्कृतधर्मा माने जाते हैं। जो तत्त्व निर्धारित हो जाते हैं, उन्हीं का विवरण वे प्रस्तुत करते हैं। उनसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती, न ऐसी सम्भावना है कि वे ऐसी बात कहें जिससे आगे आनेवाले जिज्ञासुजन झमेले में पड़ जाएँ। उनकी भावना पूर्ण पवित्र होती है, सर्वथा छल-छिद्र से रहित। वे सर्वहितकारी भावना से केवल निश्चित तत्त्वमूलक सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। परन्तु उपनिषदों में दोनों प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं। जहाँ अद्वैत के प्रतिपादक—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** (छा० ६।२।१), **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा० ३।१४।१), **'नेह नानास्ति किञ्चन'** (बृहद्० ४।४।१९), **'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'** (ईशावास्य० १६) इत्यादि वाक्य हैं, वहाँ द्वैत अथवा भेद के प्रतिपादक वाक्यों की भी उपनिषदों में कमी नहीं है। प्रत्युत कहना चाहिए कि समस्त उपनिषदों का ढाँचा व कलेवर ही द्वैत पर आधारित है। उपनिषदों में जो अध्यात्म कहा गया है, वह उपास्य-उपासक, जिज्ञास्य-जिज्ञासु एवं ज्ञेय-ज्ञाता रूप में वर्णित है।एक ही तत्त्व उपास्य-उपासक आदि दोनों रूपों में सदैव वर्णित होना

नितान्त अव्यवहार्य एवं असम्भव है। ऐसी स्थिति में इन दोनों विचारों के बीच कौन औपचारिक और कौन वास्तविक है? इसका समझना आवश्यक है, क्योंकि साक्षात्कृतधर्मा वेदवित् सन्मार्ग के प्रदर्शक ऋषि जिज्ञासुजनों को सन्देह में डालने की बात नहीं लिख सकते।

उपनिषदों में प्रतिपादित अध्यात्म को लक्ष्य कर वेदव्यास बादरायण ने एक-मात्र अखण्ड ब्रह्म के निर्दोष-निष्कलंक अस्तित्व को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ का निर्माण किया। यह ग्रन्थ आज 'वेदान्त दर्शन' के नाम से जाना जाता है। इसमें प्रत्येक पहलू से ब्रह्म के अस्तित्व को पूर्णतया सिद्ध किया है।

महर्षि वेदव्यास बादरायण ने ही कौरव-पाण्डवों के युद्ध का इतिहास अपनी रचना 'महाभारत' नामक ग्रन्थ में लिखा। उसी के एक खण्ड भीष्म पर्व के अन्तर्गत एक विशेष अवसर पर 'श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद' के रूप में प्रसंगानुरूप अध्यात्म का विवरण अठारह अध्यायों में प्रस्तुत किया, जो चिरकाल से 'भगवद्गीता' नाम से लोकप्रसिद्ध है। ये अध्यात्म तत्त्व के प्रतिपादक तीन ग्रन्थ (११ उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र और गीता) अद्वैत वेदान्त के आधारभूत माने जाते हैं। अद्वैत सम्प्रदाय के अन्तर्गत अपनी मान्यता के अनुसार बाहर भी ये ग्रन्थ 'प्रस्थानत्रयी' नाम से पुकारे जाते हैं।

यह एक निश्चित तथ्य है, और इसको कभी अपने ध्यान से ओझल न होने देना चाहिए कि ऋगादि वेदों में अध्यात्म तत्त्व बिखरा हुआ निहित है, उसी को विभिन्न ऋषियों ने उपनिषदों के रूप में संकलित किया है। अन्य आचार्यों का कहना है कि उन्हीं उपनिषदों का सार गीता है।

गीता में श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवादरूप से जो उपनिषदों का सार अध्यात्म-अमृत दुहा गया है, उसका भोक्ता अकेला अर्जुन न होकर प्रत्येक सुधी-सुविज्ञ व्यक्ति है, प्रत्येक व्यक्ति उस अमृत अध्यात्मरस का पान कर सकता है। जिस वेदव्यास बादरायण ने अठारह अध्यायों में गीता का प्रवचन किया, वही ब्रह्मसूत्रों का रचयिता है। इस कारण गीता और ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित विषय का परस्पर सामंजस्य होना स्वाभाविक है। ब्रह्मसूत्र में लगभग बीस-बाईस सूत्र ऐसे हैं जिनमें जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के भेद का स्पष्ट उल्लेख है। आचार्य शंकर ने उन सूत्रों का भाष्य सूत्रानुसारी भेदघटित किया है; परन्तु प्रायः सर्वत्र आचार्य यह लिखना नहीं भूला कि यह अविद्याकृत है, वास्तविक नहीं। परन्तु इसके विपरीत स्वयं सूत्रकार ने समस्त ब्रह्मसूत्र में कहीं भी ऐसा संकेत तक नहीं दिया कि उक्त सूत्रों में जीव-ब्रह्म के भेद का उपपादन अविद्याकृत है। अतः भाष्यकार का ऐसा लेख सूत्रकार की भावना के अनुकूल नहीं है।

'प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त' के लेखक स्वामी विद्यानन्द का कहना है कि ब्रह्मसूत्र में सब मिलाकर लगभग सत्तर सूत्र ऐसे हैं, जिनमें जीव, ब्रह्म व प्रकृति

इन तीन अनादि तत्त्वों का अपने स्वतन्त्र रूप में वर्णन किया गया है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है; जीवात्मा जगत् में स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करता और सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार अपने कृत-कर्मों के फलों का भोक्ता है, ब्रह्म समस्त विश्व का नियन्ता होने से निमित्तकारण है। इस प्रकार ये तीनों तत्त्व अनादि हैं; अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

गीता में भी इन तीनों अनादि तत्त्वों का एक-दूसरे से पृथक् रूप में कुछ वर्णन उपलब्ध है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—**'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः'** (गीता २।१८) देह का अन्त हो जाना है, परन्तु इस देह में रहनेवाला जीवात्मतत्त्व नित्य है। अन्यत्र कहा—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥—गीता ४।५

मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं, मैं उनको जानता हूँ, तुम नहीं जानते; क्योंकि मैंने उस स्तर को प्राप्त किया है, जहाँ पूर्वजन्मों के अस्तित्व की जानकारी प्राप्त हो जाती है। ये वर्णन जीवात्माओं की अनेकता व नित्यता आदि को स्पष्ट करते हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनेक प्रकार से किये गये वर्णनों से तो गीता भरी पड़ी है। गीता के अन्तिम भाग में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥—गी० १५।१७

जो **उत्तम पुरुष** परमात्मा कहा गया है, वह जीवात्मा व प्रकृति से अन्य है। जो पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु तीनों लोकों में अन्तर्यामिरूप से अवस्थित होकर इन सब लोकों का धारण व भरणपोषण करता है। इस प्रकार गीता भी अनादि नित्य तीन तत्त्वों का स्पष्ट वर्णन करती है। इस रूप में ब्रह्मसूत्र और गीता का परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है।

गीता उपनिषदों का सार है, और ब्रह्मसूत्र भी उस ब्रह्म के निर्दोष-निष्कलंक स्वरूप का उपपादन करता है जो उपनिषदों में वर्णित है, इसलिए गीता और ब्रह्मसूत्र में जो कहा गया, वह उपनिषदों का संवादी होना चाहिए, विसंवादी नहीं। तब तीन अनादि तत्त्वों का अस्तित्व उपनिषद्मूलक है, ऐसा मानने में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती। **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इत्यादि वाक्यों का अर्थ किया जाता है कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद से शून्य है। ऐसे वाक्य ब्रह्म की प्रतियोगिता में सजातीय, विजातीय ब्रह्म का प्रतिरोध कर उसमें स्वगतभेद का भी प्रतिषेध करते हैं। तात्पर्य है, एकमात्र ब्रह्म का न कोई अन्य सजातीय ब्रह्म है, न विजातीय और न उसमें स्वगतभेद होता है, अर्थात् वह स्वयं अपरिणामी, अव्यय तत्त्व है। ऐसे वाक्य ब्रह्म से भिन्न जीवात्माओं तथा प्रकृति

के अस्तित्व का निषेध नहीं करते।

यदि ऐसा अर्थ न कर अन्य सजातीय-विजातीय जीवात्माओं व उपादान-तत्त्व प्रकृति या माया के निषेध में तात्पर्य है, तो यह वाक्य ही निरर्थक हो जाता है, क्योंकि एकमात्र तत्त्व ब्रह्म की मान्यता में जब अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं, तो निषेध किसका ? यह निषेध उन वस्तुतत्त्वों का साधक हो जाता है। तब इस निषेध का तात्पर्य इसी रूप में मानना होगा कि एकमात्र ब्रह्म सत्य है, उससे अतिरिक्त तत्त्व मिथ्या है। ऐसी स्थिति में सत्य और मिथ्या पर विचार करना अपेक्षित हो जाता है—क्या सत्य है ? और क्या मिथ्या है ?

अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि जो त्रिकालाबाध्य है, वह सत्य है, जो तीनों कालों में एकसमान बना रहता है, स्वरूप को कभी छोड़ता नहीं, जिसके स्वरूप में कोई परिवर्त्तन या अदल-बदल नहीं होती, वह सत्य है। जैसे ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप है, वह तीनों कालों में ऐसा ही विद्यमान रहता है, उसके स्वरूप में कभी कोई अन्तर नहीं आता, वह सत्य है। जो तत्त्व परिणामी है, अदलता-बदलता रहता है, वह मिथ्या है। जगत् का उपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृति कहें अथवा अनिर्वचनीय माया कहें, ये मिथ्या हैं, क्योंकि इनमें अदल-बदल व परिवर्त्तन-परिणाम होते रहते हैं।

इस मान्यता पर विवेचन करते समय दो विचार सामने आते हैं। पहला यह कि इस मान्यता के दूसरे अंश में—अर्थात् प्रकृति या माया के विषय में—जो कहा गया है, वह धोखे से भरा कथन है। वस्तुतः प्रकृति या माया के विषय में जो कहा गया वह उसका स्वरूप ही है। वह उपादान तत्त्व स्वरूपतः परिणामी है, परिवर्त्तन-शील है, उसका यह स्वरूप त्रिकालाबाध्य है। वह सर्गावसर पर जगत् के रूप में परिणत होता और लयावसर पर पुनः अपने कारणरूप में अवस्थित रहता है। यह इसका अनादि, अनन्त, नैसर्गिक स्वरूप है। सत्य का किया गया त्रिकालाबाध्य लक्षण इसमें पूर्णतया घटित होता है। तब यह सत्य क्यों नहीं ? लक्षण घटते भी इसे मिथ्या कहना धोखा देना है।

दूसरी बात यह सामने आती है कि सत्य और मिथ्या के ये लक्षण अनिवार्य व सुनिर्धारित कसौटी नहीं हैं। इन्हें उलटकर बदला भी जा सकता है। जो वस्तु-तत्त्व प्रत्यक्षरूप से अनुभव में आता, व सर्वजनविदित अस्तित्ववाला है, वह सत्य और जो इसके आधार पर कल्पना किया जाता है, वह मिथ्या माना जाना चाहिए। अभिप्राय यह है कि केवल सत्य या मिथ्या नाम दे देने से किसी वस्तु-तत्त्व को सत्य या मिथ्या नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत वस्तुतत्त्व के अस्तित्व को मूलतः पहचानना उसके सत्य होने का मुख्य आधार मानना चाहिए। इसके अनुसार जगत् के मूल उपादानतत्त्व को मिथ्या या असत्य कहना दुराग्रहमात्र ही कहा जा सकता है।

इसके साथ यह भी विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताता है। कोई भी उपादानकारण कार्यरूप में आने पर भी अपने तात्त्विक रूप का परित्याग नहीं करता। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, उसका कार्यरूप भी त्रिगुणात्मक है। माया को अनिर्वचनीय कहा जाता है; उसका कार्य भी अनिर्वचनीय है। ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर कार्यजगत् भी सत्-चित्-आनन्दरूप माना जाना चाहिए, क्योंकि उपादानकारण कार्यरूप में होने पर भी अपने तात्त्विक रूप का परित्याग नहीं करता, तब कार्यजगत् को मिथ्या कैसे कहा जा सकेगा? अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का एक सम्प्रदाय विद्यमान है जो ब्रह्म के कार्यजगत् को ब्रह्म के समान मानकर उसी में संलिप्त रहकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। वस्तुतः ऐसी मान्यता गहरे अज्ञान व मिथ्याज्ञान का ही परिणाम है। चेतन के अचेतनरूप में तथा अचेतन के चेतनरूप में होने की मान्यता लोकायतमत में प्रवेश का द्वार खोलती है। वास्तविकता यह है कि अपने-अपने रूप में या स्थान पर दोनों प्रकार के तत्त्व सत्य हैं। उनमें एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या बताना नितान्त अशास्त्रीय है। फलतः जगत् के उपादान-कारणरूप तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व को अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता है, जो चेतनवर्ग से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार विश्व का नियन्ता परब्रह्म, कर्त्ता-भोक्ता-जीवात्मा तथा जगत् के उपादानकारणरूप में प्रकृति का स्पष्ट विवरण प्रस्थानत्रयी में उपलब्ध है। इस आधार पर इनका पूर्ण सामञ्जस्य है।

ब्रह्मसूत्र और गीता के उपष्टम्भक उपनिषद् सब वेदमूलक हैं। उनमें प्रति-पादित अर्थतत्त्व वेदानुकूल ही सम्भव है, प्रतिकूल नहीं। ऋग्वेद के **अस्यवामीय, नासदीय** आदि सूक्तों तथा अन्य अनेक सूक्तों व ऋचाओं में वृक्ष, स्वधा, त्रिधातु, अदिति आदि पदों से जगत् के मूल उपादानतत्त्व का स्पष्ट निर्देश है। वेदोक्त अत्यधिक क्रियापदों के कर्त्ता के रूप में जीवात्मतत्त्व का पर्याप्त मात्रा में वर्णन है। इन दोनों के अतिरिक्त उस एकमात्र सर्वोच्च नियन्ता तत्त्व के उपास्य रूप में किये गये वर्णन से वेद भरे पड़े हैं। विद्वान् उस एक तत्त्व का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।

उस समय (प्रलयकाल में) सब-कुछ **'असत्'** था—यह बात नहीं है। सब-कुछ **'सत्'** (विद्यमान) था, यह बात भी नहीं है, क्योंकि ये दृश्यमान लोक-लोकान्तर और उनसे परे व्यवहार्य आकाश नहीं था।

तब जिज्ञासा होती है कि यह सब नहीं था तो फिर उस समय क्या था? द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध में बताया है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।

स्वधा (उपादान प्रकृति) के साथ एक निर्दोष चेतन सत्ता थी, जिससे 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट अन्य कुछ नहीं है। यहाँ निमित्तकारण के रूप में ईश्वर का और मूल उपादानतत्त्व के रूप में प्रकृति का उल्लेख किया है। पाँचवें मन्त्र में **'रेतोधा आसन्'** कहकर जीवात्माओं (**रेतोधा:**) का भी स्पष्ट वर्णन है।

इसी प्रकार **'अस्यवामीय'** सूक्त की २०वीं ऋचा में वृक्ष पद से जगत् के मूल उपादानतत्त्व का, भोक्तारूप से जीवात्मा का तथा अभोक्तारूप से परमात्मा का अस्तित्व स्पष्ट किया गया है।

ब्रह्मसूत्र और गीता का उपजीव्य—विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से—उपनिषद् हैं, उपनिषदों का उपजीव्य वेद है। इस कारण विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इनका परस्पर आनुकूल्य स्वाभाविक है। परन्तु प्रस्थानत्रयी में द्वैत-अद्वैतपरक दोनों प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं। इस विषय में अद्वैतवादी आचार्यों का कहना है कि अद्वैतपरक वाक्यों को मुख्य और द्वैतपरक वाक्यों को औपचारिक समझना चाहिए, क्योंकि सिद्धान्त की वास्तविकता अद्वैत में है, द्वैत तो व्यवहार-मात्र है, जो यत्किञ्चित्कालिक है, वहाँ सादातानत: अस्तित्व का अभाव है, अत: वह गौण है। अद्वैत को ही मुख्य एवं शास्त्र-सम्मत सिद्धान्त मानना युक्त है। इसके विपरीत द्वैतवादी आचार्यों का कहना है कि मूलत: द्वैत माने बिना व्यवहार, अर्थात् सर्गकालिक विश्व का वैविध्य असम्भव है। व्यवहार क्या है? विश्व का वर्त्तमान में होना ही तो व्यवहार है।

यह कहना भी युक्त नहीं है कि व्यवहार यत्किञ्चित्कालिक है। व्यवहार क्रमिक तो अवश्य है, क्योंकि यह इसका स्वरूप है। पर यह क्रमिकता कभी बाधित नहीं होती, अत: यह सादातनिक है। इसी क्रमिकता में विश्व का वैविध्य निहित है। यदि मूल में केवल एकमात्र तत्त्व की सत्ता है, और अद्वैतवादी आचार्यों के कथनानुसार यह विश्व उसी सत्ता का विवर्त्त है तो इसका तात्पर्य है कि वह सत्ता ही विविध वर्त्तमान विश्व के रूप में भासित होती है। पर उनका ऐसा कथन सर्वथा अर्थहीन है, केवल शब्दमात्र, क्योंकि एकमात्र मूल तत्त्व, किसी दूसरे विजातीय सम्पर्क के बिना वैविध्यपूर्ण वर्त्तमान के रूप में भासित नहीं हो सकता, इसलिए मूल तत्त्व का ऐसा स्वरूप माना जाना आवश्यक है, जहाँ विजातीय सम्पर्क सम्भव हो।

गत पंक्तियों में यह कहा जा चुका है कि मूल तत्त्व कार्यरूप में आने पर भी अपने तात्त्विक स्वरूप का परित्याग नहीं करता। इस व्यवस्था के अनुसार अगणित वैविध्य से पूर्ण जगत् का मूल उपादान कारण वही हो सकता है, जिसमें वैविध्य विद्यमान हो। ऐसी दशा में विविध एवं जड़ (अचेतन) रूप में वर्त्तमान जगत् को एकमात्र चेतन ब्रह्म का विवर्त्त कहना वास्तविकता के साथ मज़ाक करना है। द्वैत को माने बिना गाड़ी चल नहीं सकती, फलत: **प्रस्थानत्रयी** में

कथित उभयविध वाक्यों में द्वैतपरक वाक्यों को ही मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में मानना न्याय्य है। अद्वैतपरक वाक्य भक्ति-भावनापूर्ण उपासना की दृष्टि से कहे गये हैं, इसलिए उन्हें औपचारिक माना जाना उचित है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी के इन उभयविध वाक्यों में किसी असामञ्जस्य की आशंका करना निर्मूल होगा।

अन्त में इस गहन गम्भीर अध्यात्मशास्त्र के जंगल में मुख्य और औपचारिक को पहचानने की एक कसौटी प्रस्तुत है, विज्ञ पाठक ध्यान देंगे—

प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् शेष दोनों का आधारभूत प्रस्थान है। उपनिषदों में भी एकादश उपनिषद् प्रधान माने जाते हैं। उनमें भी सर्वप्रथम स्थान ईशावास्य उपनिषद् को प्राप्त है। यह उपनिषद् जहाँ से प्रारम्भ होता है, उससे मङ्गलाचरण रूप में एक सन्दर्भ सर्वत्र मुद्रित रहता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

सब उपनिषदों के शीर्ष स्थान में बैठे इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है, इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, उसी का विस्तृत विवरण उपनिषदों में प्रस्तुत हुआ है, फलतः यह सब उपनिषदों का सार है। इस सन्दर्भ का भी सार पहले दो पदों में निहित है, शेष भाग उसी का व्याख्यान है। दो पद हैं—**'अदस्'**, **'इदम्'**। **'अदस्'** परोक्ष है, **'इदम्'** प्रत्यक्ष है। **'अदस्'** चेतन है, **'इदम्'** अचेतन है, जड़ है। **'अदस्'** परोक्ष चेतन परब्रह्म परमात्मा है, **'इदम्'** प्रत्यक्ष अचेतन (जड़) अगणित लोक-लोकान्तरों के रूप में बिखरा पड़ा विश्व है। सन्दर्भ में बताया—**पूर्णं अदः, पूर्णं इदम्**; **'अदस्'** पूर्ण है, **'इदम्'** पूर्ण है। अपने-अपने रूप में अवस्थित दोनों पूर्ण हैं, किसी में कोई न्यूनता नहीं। न्यूनता हो तो इधर-उधर से कुछ लेकर उसे पूरा करे। इसलिए न **'अदस्'** **'इदम्'** से कुछ लेता है; न **'इदम्'** **'अदस्'** से। इसी कारण न **'अदस्'** कभी **'इदम्'** होता है और न **'इदम्'** कभी **'अदस्'**।

'अदस्' सर्वव्यापी है; कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ उसका अस्तित्व न हो, इसलिए इससे बाहर का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'बाहर' का विरोधी पद 'अन्दर' या 'भीतर' है। तब यही कहा जा सकता है कि **'अदस्'** से अतिरिक्त जो **'इदम्'** है, वह (इदम्) उसी (अदस्) के अन्दर है। अन्दर होते हुए भी **'इदम्'** **'अदस्'** का स्वरूप नहीं है। स्थानतः एक जगह रहते हुए भी स्वरूप से **'इदम्'** **'अदस्'** से पृथक् है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के अगले वाक्य में कहा—**'पूर्णात् पूर्णं उदच्यते'**—**'अदस्'** पूर्ण से **'इदम्'** पूर्ण उदक्त है, पृथक् है। तात्पर्य है, स्थानतः **'अदस्'** पूर्ण के अन्तर्गत भी **'इदम्'** पूर्ण स्वरूपेण उससे पृथक् है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के उत्तरार्द्ध से पुष्ट किया—

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

'अदस्' पूर्ण के सम्बन्धी या साथी **'इदम्'** पूर्ण को पृथक् लेकर **'अदस्'** पूर्ण ही बना रहता है, क्योंकि **'अदस्'** पूर्ण के स्वरूप से कोई अंश **'इदम्'** पूर्ण ने नहीं लिया। **'अदस्'** से **'इदम्'** को पृथक् उठाने से न **'अदस्'** का कोई अंश न्यून हुआ, न **'इदम्'** का बढ़ा। यदि ऐसा रहा होता, तो सन्दर्भ का प्रथम वाक्य **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** सर्वथा अर्थहीन व असत्य हो जाता। इस प्रकार सन्दर्भ का शेष समस्त भाग उसी अर्थ की वास्तविकता को स्पष्ट व पुष्ट करता है। पूर्ण **'अदस्'** और पूर्ण **'इदम्'** के इस द्वैत को कौन झुठला सकता है?

श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने **'प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त'** नामक अपनी रचना में विस्तृत विवेचन के साथ सफलतापूर्वक यह स्थापित किया है कि उपनिषद् आदि के उभयविध वर्णनों में द्वैत मुख्य है। आपाततः अद्वैत के प्रतिपादक वाक्य उपासना व भक्तिभावना के रूप में औपचारिक हैं। वस्तुतः **'अदस्'** और **'इदम्'** दोनों पूर्ण हैं, दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। दोनों सत्य हैं, मिथ्या कोई नहीं। यही वैदिक सिद्धान्त है, जो विभिन्न ऋषियों द्वारा विविध आख्यान आदि के रूप में विवृत किया गया है।

अजमेर
१ जून १९८७

—उदयवीर शास्त्री

प्रकाशकीय वक्तव्य

आज का संसार भारतीय दर्शन को वेदान्त के रूप में जानता है और वेदान्त से तात्पर्य शांकर वेदान्त अथवा अद्वैतवाद समझा जाता है। वेदान्त का यह रूप न श्रुतिसम्मत है और न तर्कसंगत। अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक तथा प्रचारक प्रस्थान-त्रयी के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुत: मध्यकालीन आचार्यों ने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषदों, वेदान्त-सूत्रों तथा गीता के मनमाने अर्थ करके उनपर अद्वैतवाद को आरोपित करने की चेष्टा की है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत आपाततः अद्वैतवाद के प्रतिपादक सन्दर्भों के वास्तविक अर्थों को उद्‌घाटित करते हुए अर्थभ्रान्ति की सभी बाधाओं को निरस्त करके वैदिक मत को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी सार्थकता है। इस ग्रन्थ के लेखक भारत सरकार द्वारा सम्मानित तथा उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत, अनेक मौलिक ग्रन्थों के रचयिता श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है। मुझे विश्वास है उनके इस ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य विद्वान् भी इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास करेंगे।

सूर्यदेव
अध्यक्ष—**वैदिक प्रकाशन**

कृतज्ञता प्रकाशन

हमारे अनुरोध पर श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना करके दार्शनिक चिन्तन में रुचि रखनेवाले साहित्य-प्रेमियों को उपकृत किया है। इससे पूर्व भी पाठक वैदिक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित स्वामीजी के ग्रन्थ Anatomy of Vedanta का रसास्वादन कर चुके हैं। दर्शनों के मर्मज्ञ विद्वान् साहित्यवाचस्पति आचार्य उदयवीरजी शास्त्री ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसकी प्रामाणिकता को और भी बढ़ा दिया है। मैं दोनों विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ।

ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने जो परिश्रम किया है तदर्थ उन्हें धन्यवाद देता हूँ। प्रेस के संचालक श्री पं० रामसेवक मिश्र और सभी कर्मचारियों का भी आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक के शुद्ध और शीघ्र मुद्रण में तत्परता दिखाई है।

धर्मपाल आर्य, एम० ए०, पी-एच० डी०
निदेशक
वैदिक प्रकाशन
१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली

विषय-सूची

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
—ऋग्वेद १।१६४।२०

Photostat of plate No. CXII, Seal No. 387 from the excavations at Mohenjo-daro.
(From Mohenjo-daro and the Indus Civilization-edited by Sir John Marshall, Cambridge, 1931)

प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त

प्रस्तावना

भारत की वैचारिक परम्परा में दर्शन व धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं। दर्शन की नींव पर ही धर्म का भवन खड़ा किया जाता है। **'दृशिर् दर्शने'** धातु से दर्शन शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है— **'दृश्यते ज्ञायते सत्यमनेनेति दर्शनम्'** जिससे सत्य को जाना जा सके उस ऊहापोहरूपी सन्नियत विचार-शृंखला को **'दर्शन'** कहते हैं। इस दार्शनिक सत्य का धारण करना—उसका जीवन में कार्यान्वित होना **'धर्म'** है। दर्शन का सम्बन्ध विचार से है, धर्म का आचार से। इस प्रकार दर्शन का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप धर्म है। दर्शन व धर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही हमारे यहाँ वेद, उपनिषद्, गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थ भी हैं और धार्मिक भी।

वैदिक धर्म के गूढ़ तत्त्वों का सूक्ष्म, किन्तु भावात्मक, विवेचन प्राचीनकाल में उपनिषदों में किया गया। ये उपनिषद् भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा बनाये गये हैं। इसलिए उनमें कहीं-कहीं विचारों की भिन्नता भी आ गई है। बादरायण ने अपने वेदान्तसूत्रों में उन विचारों में समन्वय करके सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी है। इसी कारण वेदान्तसूत्र भी उपनिषदों की तरह प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदान्तसूत्रों का अपर नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरकसूत्र' है। उपनिषदों तथा वेदान्तसूत्रों में वैदिक प्रवृत्तिमार्ग का विस्तृत विवेचन कहीं नहीं किया गया है। तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी इस न्यूनता की पूर्त्ति करनेवाले ग्रन्थ के रूप में भगवद्गीता को मान्यता मिली। उपनिषदों, वेदान्तसूत्रों तथा भगवद्गीता को 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से अभिहित किया गया।

साधारणतया वैदिक धर्म के तत्त्वज्ञान का आधार प्रस्थानत्रयी को समझा जाता है। प्रस्थानत्रयी का दिनों-दिन अधिक प्रचार होने

से वैदिक धर्म के व्याख्याता उन मतों और सम्प्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे जिनका समावेश प्रस्थानत्रयी में नहीं किया जा सकता। परिणाम यह हुआ कि बौद्धमत के पतन के बाद वैदिक धर्म के अन्तर्गत जो भी सम्प्रदाय (द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि) प्रचलित हुए, उनमें से प्रत्येक के आचार्य को प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों पर भाष्य लिखकर यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता अनुभव हुई कि उनके आधार पर हमारा सम्प्रदाय ही स्थापित हुआ है और अन्य सभी सम्प्रदाय इन धर्मग्रन्थों के मन्तव्यों के विरोधी हैं। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी पर साम्प्रदायिक दृष्टि से भाष्य लिखने की परम्परा चल पड़ी।

वेदों, उपनिषदों आदि में जिन दार्शनिक मन्तव्यों का निरूपण हुआ है, उनका अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने विवेचन किया है। अनेकानेक आचार्यों ने पूर्ववर्त्ती सूत्रों या कारिकाओं की व्याख्या की है। उनपर वृत्तियाँ, वार्त्तिक या भाष्य लिखे हैं। अथवा वृत्ति, वार्त्तिक या भाष्यों पर टीकाग्रन्थ लिखे हैं किन्तु उन व्याख्या-ग्रन्थों में उन्होंने अपने निजी मन्तव्यों का या किसी सम्प्रदायविशेष के विकसित मन्तव्यों का भी समावेश कर दिया है। कौन नहीं जानता कि एक ही ब्रह्मसूत्र की आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व और वल्लभ आदि के द्वारा जो परस्पर भिन्न व्याख्याएँ की गई हैं, वे सब ब्रह्मसूत्र का ही मन्तव्य नहीं दिखलातीं, अपितु उनके व्याख्याकारों के अपने-अपने दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। इसी प्रकार न्यायसूत्रों के वात्स्यायन-भाष्य पर जो उद्योतकर का न्यायवार्त्तिक है और न्यायवार्त्तिक पर जो वाचस्पतिमिश्रकृत तात्पर्य-टीका है, उनके मन्तव्यों में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। वाचस्पतिमिश्र द्वारा निर्धारित न्याय के मन्तव्य सूत्रकार गौतममुनि के अभिमत हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

लोकमान्य तिलक के अनुसार "शंकराचार्य के पूर्वकालीन टीका-कार गीता का अर्थ ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक ही किया करते थे। परन्तु वैदिक कर्मयोग का यह सिद्धान्त शंकराचार्य को मान्य नहीं था। इसलिए उसका खण्डन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य बताने के लिए ही उन्होंने गीताभाष्य की रचना की। यह बात उक्त भाष्य के आरम्भ में ही उपोद्घात में स्पष्टरूप से कही गई है।"

—गीतारहस्य, विषयप्रवेश

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत वेदान्त-सम्बन्धी कतिपय अधिक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों पर मतमतान्तर के आग्रह से असम्पृक्त रहकर युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर विचार किया गया है।

प्रस्थानत्रयी का संक्षिप्त विवरण

उपनिषद्

'उप' तथा **'नि'** उपसर्गपूर्वक **'क्विप्'** प्रत्ययान्त **'सद्'** धातु से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। **'सद्'** धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण (नाश), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन। इस प्रकार उपनिषद् का अर्थ हुआ—वह ज्ञान जिससे अविद्या का नाश होकर आत्मज्ञान की प्राप्ति और दुःख का अन्त होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार **'सद्'** धातु से **'नि'** उपसर्ग लगाकर **'निषीदति'** आदि प्रयोगों के आधार पर जिज्ञासुओं का ब्रह्मवित् गुरुओं के पास (उप) बैठकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना भी उपनिषद् शब्द से अभिप्रेत है।[1] इस अर्थ में भी उपनिषद् एक रहस्यतत्त्व की ओर संकेत करनेवाला साहित्य है जिससे जिज्ञासु अथवा उपासक की अविद्या का नाश होकर उसे विद्या या ज्ञान की प्राप्ति होती है और इस प्रकार उसके त्रिविध दुःखों का अन्त हो जाता है।

---

1. Native philosophers derive it either from the root 'sad' (सद्) in the sense of destruction, supposing these ancient treatises to have received their name because they were intended to destroy passion and ignorance by means of divine revelation, or from the root 'sad' (सद्) in the sense of approaching, because a knowledge of Brahman comes near to us by means of the Upanishads, or because we approach Brahman by their help. Most Europeon scholars are agreed in deriving Upanishad from the root 'sad' (सद्) to sit down preceded by the two propositions 'ni' (नि) down and 'upa' (उप) near, so that it would express the idea of session or assembly of pupils sitting down near their teacher to listen to his instructions.

—Maxmuller : Sacred Books of the East, Vol. I, Introduction, page 79-80.

दर्शन और जीवन की जो रूपरेखा उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुई वह भारतीय समाज में सदा आदर्श मानी गई है। इस देश के समस्त दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आधार अधिकांश में उपनिषद्-साहित्य रहा है। उपनिषदों की रचना जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने की उनका जीवन तपःपूत था। वे ज्ञान की खोज में निष्काम परिश्रम करते थे और समाधिस्थ हो सत्य का दर्शन कर उसे मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ अभिव्यक्त करते थे। भारतीय जीवन को अध्यात्म तथा सात्त्विकता की ओर प्रवृत्त करने का सबसे अधिक श्रेय उपनिषद्-साहित्य को है।

उपनिषदों की महत्ता उनकी सार्वभौमता में है। उनका जीवन-दर्शन एक सार्वभौम धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। संसार के सभी मतमतान्तर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को उस परब्रह्म की ओर प्रेरित करते हैं जो इस समस्त चराचर जगत् का मूलाधार है किन्तु चाहने मात्र से सब-कुछ नहीं हो जाता। गन्तव्य पर पहुँचने के लिए उचित मार्ग का अवलम्बन भी उतना ही आवश्यक है। और इस मार्ग का पता वही दे सकता है जो स्वयं वहाँ तक 'पहुँचा हुआ' हो। उपनिषदों के ऋषियों ने जो दिशा-निर्देश किया है, वह कहीं पढ़-सुनकर नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार करके किया है। इसी विश्वास के आधार पर शोपनहार ने कहा है कि एक-न-एक दिन यही (उपनिषद् की शिक्षा) मानवमात्र की आस्था का केन्द्र बनेगी।[1]

उपनिषदों की संख्या में पर्याप्त मतभेद है। यह संख्या २०० के लगभग बताई जाती है। वर्तमान में १०८ उपनिषद् उपलब्ध हैं। इनमें कुछ उपनिषदें साम्प्रदायिक हैं। इसलिए सबकी प्रामाणिकता एक-सी नहीं है। आद्य शंकराचार्य से लेकर दयानन्द तक प्रमुख आचार्यों के मतानुसार ११ उपनिषदें ऐसी हैं जो अधिक लोकप्रिय हैं और जिन्हें प्रमाणरूप से उद्धृत किया जाता है। वे हैं—**ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर।** भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी उपनिषदें वस्तुतः ईशोपनिषद् का ही विस्तार हैं। ईशोपनिषद् यजुर्वेद की काण्व शाखा का ४०वाँ अध्याय है। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा अथवा उनपर

---

1. It is destined, sooner or later, to become the faith of the people.—Loc. cit. vol. I, page 69.

आधारित ब्रह्मविद्या वेदमूलक है, तथापि उनके मनुष्योक्त होने, भिन्न-भिन्न काल में अनेकों की रचना होने अथवा कालान्तर में उनमें प्रक्षेप होने के कारण यदि उनमें कोई बात वेद के विपरीत प्रतीत होगी तो मीमांसाकार जैमिनि के **'विरोधे त्वनपेक्ष्यमिति'** इस वचन के अनुसार श्रुति का प्रामाण्य होने से वह अमान्य होगी। काण्व तथा यत्र-तत्र किंचित् परिवर्तन के साथ माध्यन्दिन वाजसनेयी संहिता का अन्तिम अध्याय होने से इसे वेद का अन्त अथवा वेदान्त कह दिया जाता है। यजुर्वेद के इस अध्याय का देवता 'आत्मा' है। आत्मा पद ईश्वर तथा जीव दोनों का वाचक है। इसलिए इस अध्याय को **आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त** आदि नामों से अभिहित किया जाता है। **ईशोपनिषद्** अथवा **ईशावास्योपनिषद्** इसका प्रसिद्ध नाम है। इस नाम का गूढ़ार्थ भी यही है कि इसमें ईश की विद्या=ब्रह्मविद्या का निरूपण हुआ है।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय द्वैत या अद्वैत नहीं है, किन्तु प्रतिपाद्य न होते हुए भी वह उसका आधार अवश्य है। जब हम यह कहते हैं कि जैसे भौतिकवादी प्रकृति और शरीर को यथार्थ समझता है वैसे ही उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है तो हम प्रकारान्तर से ब्रह्म, प्रकृति तथा यथार्थ को जाननेवाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा मानने पर ही उपनिषद् की सार्थकता है। संसार यदि 'श्वोभाव:' है—टिकनेवाला नहीं है तो कुछ टिकनेवाला भी अवश्य है। तभी तो 'श्वोभाव:' से विमुख होकर नित्य की ओर उन्मुख होने को कहा जाता है और ये विधिनिषेधात्मक वाक्य जिसे कहे जाते हैं वह निश्चय ही नित्य ब्रह्म तथा नित्य, किन्तु परिणामी, जड़ प्रकृति दोनों से भिन्न तीसरी चेतन सत्ता है। एकत्व अथवा अद्वैत की स्वीकृति के साथ ही उपनिषद् की सारी शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। उपदेश्य के बिना उपदेष्टा तथा उपदेश दोनों अन्यथा-सिद्ध हैं। त्रैत की सिद्धि करना उपनिषदों का प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि वे उसे स्वतः सिद्ध मानकर चलते हैं तथापि उपनिषत्कार यत्र-तत्र अनेकत्र त्रिवाद का संकेत करते चलते हैं।

परन्तु उपनिषदों की अपनी एक विशिष्ट शैली है। यदि हम उसकी वास्तविकता को दृष्टि से ओझल कर दें तो इनमें अन्तर्हित सचाई को न पाकर भटक जाएँगे। दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता

है, काव्य में रागात्मक तत्त्व। उपनिषद् अनुभूति के ग्रन्थ हैं, इसलिए उनमें भावात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलङ्कारिकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यंजना का प्राचुर्य है। परिणामतः दर्शनों तथा उपनिषदों में वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक-दूसरे से भिन्न है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। तर्क वहाँ मौन नहीं तो गौण अवश्य हो जाता है। उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की अभेद भावना के संकेत अनेकत्र उपलब्ध हैं, परन्तु वे लौकिक प्रयोगों की भाँति ब्रह्म की अतिशय महत्ता को अथवा ब्रह्मानन्द में लीन जीवात्मा के भावातिरेक को प्रकट करते हैं। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की लहर में औपचारिकता से कथित वाक्यों को यथायथ ग्रहण कर ऐसे सन्दर्भों से आपाततः प्रतीयमान अर्थों को मानकर ही मध्यकालीन आचार्यों ने अद्वैतवाद का विशाल भवन खड़ा किया है किन्तु ज्यों ही उन शब्दों के भीतर छिपी आत्मा का दर्शन होता है, त्यों ही वह सारा भवन धराशायी हो जाता है।

समय-समय पर विद्वानों द्वारा उपनिषदों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें सबसे पुरानी टीका शंकराचार्य की है। शंकराचार्य ने उपनिषदों के अद्वैत-परक अर्थ किये। इसके विपरीत रामानुज ने उनके विशिष्टाद्वैतपरक तथा मध्वाचार्य ने द्वैतपरक अर्थ किये किन्तु उपनिषदों का वास्तविक अर्थ उनके शब्दों से ही समझा जा सकता है, उनपर आरोपित करके नहीं।

उपनिषदों में पठित कतिपय वाक्यों के आधार पर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जाता है। **'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्'** (मु० २।२।११), **'इदं सर्वं यदयमात्मा'** (बृ० २।४।६), **'आत्मैवेदं सर्वम्'** (मु० २।२।११) **'नेह नानास्ति किञ्चन'** (बृ० ४।४।१९), **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा० ३।१४।१), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०), **'अयमात्मा ब्रह्म'** (बृ० २।५।१९), **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।१७) तथा **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** (छा० ६।२।१) जैसे वाक्यों को उद्धृत करके कहा जाता है कि दृश्य-अदृश्य जो कुछ है, सब ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु ब्रह्म और जगत् की आपाततः प्रतीयमान अभेदभावना के द्योतक होते हुए भी ये वाक्य वस्तुतः ब्रह्म के सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद से शून्य होने के परिचायक हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का

निषेध कर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को प्रकट करने में उनका तात्पर्य नहीं है।

वस्तुतः पूर्वापर प्रसंग को देखे विना किसी शब्द या वाक्य के ठीक-ठीक अर्थ को नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म की सर्वात्मकता की सिद्धि में प्रस्तुत इन वाक्यों के पूर्वापर को और प्रसंगों को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी वाक्य वस्तुतः ब्रह्म की महिमा को प्रकट करने के लिए ही कहे गये हैं। स्थालीपुलाकन्याय से यहाँ उपर्युक्त वाक्यों में से केवल एक **'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्'** को स्पष्ट करते हैं। मूल उपनिषद् में इस वाक्य से अव्यवहित पूर्व का सन्दर्भ है—**'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्'** इत्यादि, अर्थात् सूर्य-चन्द्रमा आदि ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करते अपितु वे स्वयं उससे प्रकाशित होते हैं। तत्पश्चात् कहा है—**'इदमेव ब्रह्म पुरस्तात्'**—वही ब्रह्म (जिससे सब प्रकाशित होते हैं) हमारे सामने है। वही आगे, पीछे, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओं में व्याप्त है। ब्रह्म की व्यापकता के सन्दर्भ में **'इदम्'** पद पूर्वप्रकृत ब्रह्म का परामर्शक है। उसे जगत् का पर्याय नहीं माना जा सकता। सन्दर्भों के बीच में से न उठाकर उन्हें यथास्थान देखने पर ही ऐसे वाक्यों को समझा जा सकता है।

उपनिषदों में आये ऐसे कतिपय प्रसिद्ध सन्दर्भों को यहाँ प्रस्तुत कर उनपर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तदर्शन

'वेदस्य अन्तः—वेदान्तः' अर्थात् वेद के अन्त (अन्तिम ध्येय) को **'वेदान्त'** कहते हैं। अथवा **'वेदस्य अन्तः पर्यवसानं यस्मिन्नसौ वेदान्तः'** अर्थात् जिस (पद) में वेद का अन्त—पर्यवसान (परिसमाप्ति) हो, उसे 'वेदान्त' कहते हैं। कठोपनिषद् के शब्दों में ऐसा पद **'ओम्'** नामक ब्रह्म ही है।[1] इसी ब्रह्म की ऊहापूर्वक जिज्ञासा इस दर्शन का विषय है। इसी कारण महर्षि वेदव्यासकृत इन ब्रह्मसूत्रों को **'वेदान्त-दर्शन'** के नाम से पुकारा जाता है। इस विषय में महर्षि दयानन्द ने ठीक ही लिखा है—**'अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति'**[2] अर्थात् वेदों

---

१. **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।**—कठ० १।२।१५

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—वेदविचारविषयः।

का परम अर्थ (अन्तिम ध्येय—लक्ष्य या उद्देश्य) ब्रह्म ही है। ब्रह्म के यथार्थस्वरूप को जानकर मोक्ष अथवा अपवर्ग की प्राप्ति मानवजीवन का परम लक्ष्य है। भारतीय दर्शन तथा उसके आधारभूत वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य इसी के विविध साधनोपायों का विवेचन करते हैं।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने विश्व की यथार्थता को समझकर इसकी तात्त्विक व्याख्या के लिए तीन मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार किया। जगद्रूप पहेली का हल आर्य लोग सदा इस वैदिक त्रैतवाद के सहारे करते आये हैं। उनके अनुसार संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन अनादि तत्त्व अथवा सनातन सत्ताएँ हैं। प्रकृति केवल **'सत्'** (सदा रहनेवाली), जीव **'सच्चित्'** (सदा रहनेवाला और चेतन) तथा ईश्वर **'सच्चिदानन्द'** (सदा रहनेवाला, चेतन और आनन्द-स्वरूप) है। महर्षि वेदव्यास ने अपना **'वेदान्तदर्शन'** इन्हीं विचारों की पुष्टि के लिए रचा था।

आचार्य शंकर एवं रामानुज आदि भाष्यकारों के लेखों से ज्ञात होता है कि उनसे पहले भी ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य हो चुके थे। परन्तु उपलब्ध भाष्यों में सबसे पहला भाष्य आचार्य शंकर का है, इस दृष्टि से वह सर्वापेक्षा प्राचीन भाष्यकार हैं। जिन परिस्थितियों में उनका प्रादुर्भाव हुआ उनके कारण उन्हें एक विशिष्ट साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। वैदिक काल में यज्ञ की भावना मानवसमाज में सर्वोत्कृष्ट समझी जाती थी। ऋग्वेद में परमात्मा को सबसे बड़ा याज्ञिक कहा गया है।[1] उस समय यज्ञ का अर्थ आज की भाँति विशिष्ट क्रिया-कलाप नहीं था। वैदिक काल में देवपूजा, संगतिकरण और दान[2] रूपी यज्ञ की त्रिमुखी भावना से अनुप्राणित होकर आर्यजन समाजोन्नति के पथ पर अग्रसर होते थे। कालान्तर में इसी भावना को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए विशेष अवसरों पर समयोचित वेदमन्त्रों का उच्चारण करके वास्तविक अग्नि (अग्रणीर्भवतीति अग्निः) परमात्मा के निमित्त लाक्षणिक रूप में घृतादि पदार्थों का भौतिक अग्नि में होम किया जाने लगा। यह वास्तविक वैदिक यज्ञ का उपलक्षणमात्र था। समय पाकर इस क्रियाकलापमात्र का नाम ही यज्ञ रह गया।

---

१. न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्।—ऋ० ५।३।५
२. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।

वैदिक आर्य काम, क्रोध, लोभ, मोहादि की दुर्वृत्तियों को पशु कहा करते थे। इन मानवीय पशु-भावनाओं के निराकरणार्थ ज्ञान-साधन-जप-तपरूपी यज्ञ का उपक्रम किया जाता था। कालान्तर में वैदिक विधिवाक्यों का मनमाना अर्थ (अनर्थ) करके ईश्वरीय ज्ञान वेद के नाम पर पशुयज्ञों का अनुष्ठान होने लगा। धर्म और वेद के नाम पर होनेवाले इन क्रूर और घृणित कृत्यों को देखकर लोगों की आत्मा काँप उठी। लोग ऐसा तर्क-वितर्क करने लगे—"जो यज्ञों में पशु को मारकर होम करने से वह स्वर्ग को चला जाता है, तो यजमान अपने माता-पिता आदि को मारकर होम करके स्वर्ग क्यों नहीं भेजता ?"[1] जिन वेदों के नाम पर ये प्रतारणापूर्ण कार्य किये जाते थे उनके सम्बन्ध में जनसाधारण अनुभव करने लगे कि वेदों के बनानेवाले भाण्ड, धूर्त्त और निशाचर होंगे'।[2] ऐसे अनाचारों का विधान करनेवाले वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कोई कैसे मान सकता था ? और यदि वास्तव में ईश्वरीय ज्ञान ऐसा ही था, तो ऐसे ईश्वर में किसी की आस्था कैसे बनी रह सकती थी ? ऐसे अनर्थों के विरुद्ध चार्वाक, बौद्ध और जैन मतों का उदय हुआ। ये तीनों नास्तिक (ईश्वर और वेद में आस्था न रखनेवाले) और परमतासहिष्णु थे।

इन तीनों मतों में से सबसे अधिक प्रचार बौद्धमत का हुआ। बौद्धधर्म के साथ-साथ बौद्ध विचारधारा की पुष्टि के लिए बौद्धदर्शन का भी उदय होने लगा। कुछ शताब्दियों में ही यह दर्शन विद्वज्जनों में प्रतिष्ठित हो गया। बौद्ध दार्शनिकों ने जनसाधारण में तथागत बुद्ध के लोकप्रिय मन्तव्यों के प्रचारार्थ नाना प्रकार की युक्ति-प्रतियुक्तियों का विकास किया। बौद्धों का योगाचार सम्प्रदाय दार्शनिक विचारों में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। ये लोग **'विज्ञानाद्वैत'** के माननेवाले थे। इनका मत था—"केवल विज्ञानतत्त्व (आकारसहित विज्ञानयुक्त बुद्धि) ही सत्य है,[3] बाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं, समस्त विश्व स्वप्नपरिकल्पित और मिथ्या है।"

---

१. **पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥**
—सर्वदर्शनसंग्रहे चारवाकदर्शनम्

२. **त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।**—तदेव

३. **आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।**—विवेकविलास ८।२७३

यह थी विचारधारा, जिसकी अवतरणिका में शंकराचार्य का जन्म हुआ। नास्तिक मतों के झंझावात द्वारा उन्मूलितप्राय वैदिक परम्परा को पुनः स्थापित करने की भावना से शंकर ने संन्यास ले लिया। कहते हैं, सार्वजनिक वादविवादों में वेदविरोधी बौद्धों को परास्त करने के लिए इस तर्कमूर्ति ने न्यायानुमोदित सर्वोत्कृष्ट वाद-प्रक्रिया[1] का परित्याग कर जल्पप्रक्रिया[2] अपनाते हुए अपने प्रतिद्वन्द्वी (योगाचार बौद्धों) के सिद्धान्त **'विज्ञानाद्वैत'** का सहारा लिया। इस प्रकार उन्होंने सर्वत्र ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर बौद्धों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। परन्तु उनके इस जल्प से शास्त्रसम्मत एवं तर्कप्रतिष्ठित वैदिक त्रैतवाद की बुनियाद हिल गई। जहाँ पहले जनता ब्रह्म के अस्तित्व के प्रति मौन रहकर केवल दृश्यमान जगत् और जीवों की सत्ता को स्वीकार करती थी वहाँ अब 'केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं, समस्त विश्व स्वप्न-परिकल्पित है और मिथ्या है' इन विचारों की प्रगलभता बढ़ने लगी। योगाचारों के 'विज्ञानतत्त्व' को शंकराचार्य ने कुछ हेर-फेर कर 'ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म' का चोला पहना दिया, बौद्धों की 'संवृति' को 'माया' का नाम दे दिया और बौद्ध दार्शनिकों के स्वप्न के सिद्धान्त को अपना-कर संसार को मिथ्या घोषित कर दिया।

शंकरविरोधी भारतीय परम्परा के अनुसार शंकर का मत प्रच्छन्न रूप में बौद्धमत का ही रूप है—उनका मायावाद प्रच्छन्न बौद्धमत है। पद्मपुराण में कहा है कि शिव ने पार्वती पर प्रकट किया कि "माया की प्रकल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बौद्धमत का ही प्रच्छन्न रूप है। हे देवि ! मैंने ही कलियुग में एक ब्राह्मण का रूप

---

१. वाद-विवाद में जब दोनों पक्ष अपने-अपने मन्तव्यों को मानकर चर्चा कर, प्रमाण एवं तर्क के आधार पर अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का प्रतिषेध करें तो दोनों पक्ष किसी ठीक निर्णय पर पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया को 'वाद'-प्रक्रिया कहा जाता है।

२. जब परस्पर विचार में वाद-प्रक्रिया की सब बातों को मानते हुए अपने पक्ष की सिद्धि और प्रतिपक्ष के खण्डन में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग किया जाता है तो इस चर्चा को 'जल्प'-प्रक्रिया कहा जाता है।

धारण करके इस प्रकल्पना का प्रचार किया है "[1]। वस्तुतः प्राचीन बौद्धमत में यदि एक निरपेक्ष ब्रह्म के अस्तित्व का समावेश हो जाए तो हम अद्वैत वेदान्त पर ही आ जाते हैं। सांख्यदर्शन पर टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु ने कहा है—"जहाँ तक माया की विलक्षण प्रकल्पना का सम्बन्ध है, जिसका प्रचार अपने को वेदान्ती कहनेवालों ने किया है, वह केवल बौद्धों के विषयी विज्ञानवाद का ही रूप है। यह प्रकल्पना वेदान्त का मन्तव्य नहीं है। बौद्धों का प्रतीकवाद माया के सिद्धान्त की कोटि का है।"[2]

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं। ब्रह्मसूत्रकार का यह आशय रहा हो, इसका कोई संकेत सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण मानने की कल्पना भी सूत्रानुसारी नहीं रहती परन्तु ब्रह्मसूत्र के प्रथम डेढ़ अध्यायों में शंकराचार्य ने परमतप्रत्याख्यान की प्रवृत्ति को जिस उग्रता के साथ अपनाया है, अनन्तरवर्त्ती भाष्यकारों ने उसका उसी रूप में अनुकरण किया है। एक पवित्र कार्य के लिए शंकराचार्य द्वारा किया गया 'जल्प' आज भारतीय दर्शन का 'जल्प' और यहाँ के नर-नारियों के जीवन का अभिशाप बन गया है। शंकराचार्य के बाद रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने अपनी-अपनी कृतियों के द्वारा अद्वैतवादी विचारधारा को अनेक दिशाओं में प्रवाहित किया।

ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय

भिन्न-भिन्न उपनिषदों में भिन्न-भिन्न ऋषियों के बतलाये हुए अध्यात्म-सिद्धान्तों का क्रमबद्ध एवं समन्वित विवेचन करने के लिए ही बादरायण ने वेदान्तसूत्रों की रचना की। इसलिए उनमें उपनिषदों से भिन्न विचारों का होना सम्भव नहीं।

---

१. **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध उच्यते।**
मयैव कथ्यते देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥—पद्म० उत्तरखण्ड २३६।६-७
इस श्लोक से पुराणों के महाभारतकार व्यासमुनि द्वारा रचित होने का खण्डन हो जाता है। ऐसा होता तो पुराणों में महाभारत के बहुत पीछे होने वाले बौद्धमत तथा शंकराचार्य का उल्लेख नहीं हो सकता था।

२. सांख्यप्रवचनभाष्य १।२२

वेदान्तदर्शन में मुख्य रूप से ब्रह्मस्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रथम सूत्र से ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर आगे अठारह (२-१९) सूत्रों में इसी स्वरूप का वर्णन है। २-४ से सत्, ५-११ से चित् तथा १२-१९ से ब्रह्म के आनन्दरूप को सिद्ध किया है। अनन्तर प्रथम अध्याय की समाप्ति तक मुख्यरूप से कतिपय ऐसे पदों का विवेचन है जो उपनिषदादि अध्यात्मविषयक शास्त्रों में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त किये गये हैं, किन्तु अन्यत्र स्पष्ट रूप से अन्य अर्थों को प्रकट करने के लिए उनका प्रयोग प्रसिद्ध है। इस अध्याय में कतिपय ऐसे औपनिषद् प्रसंगों का भी विवेचन है जिनमें ब्रह्म का वर्णन है, पर आपाततः उन प्रसंगों में अन्य तत्त्वों के वर्णन की आशंका की जा सकती है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में पूर्णरूप से ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने व समझाने का प्रयास किया गया है। प्रथम अध्याय के वर्णन से स्पष्ट है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कर्त्ता है, चिदानन्दस्वरूप है, सर्वान्तिर्यामी, सर्वाधार और सबका नियन्ता है। स्वयं अपरिणामी रहता हुआ वह सबका संचालन करता है। इस विषय में यदि कोई अन्य विचार ऐसे उभर सकते हों, जो ब्रह्म के उक्त स्वरूप में विरोधी भावनाओं को जगाएँ तो ऐसे विचारों का विवेचन द्वितीय अध्याय के प्रथम दो पादों में प्रस्तुत किया गया है। अन्त के दो पादों में भूतसर्ग, जीवात्मा की गति-आगति, एवं इन्द्रियसर्ग आदि का विवेचन है।

तृतीय अध्याय के प्रथम दो पादों में जीवात्मा की संसारगति, सुषुप्ति आदि अवस्था तथा कर्मानुसार जीवों को परमात्मा द्वारा फल-प्रदान आदि का वर्णन है। तृतीय पाद में विविध उपासनाओं का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ पाद में बताया गया है कि मोक्षप्राप्ति केवल ब्रह्मज्ञान से सम्भव है। इस प्रकार जीवात्मा का संसारदशा में आवागमन, अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मज्ञान और उसके विविध साधनों का इस अध्याय में उपयुक्त विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

ब्रह्मज्ञान के लिए साधनों का निरन्तर अभ्यास, देवयान-पितृयाण आदि गति, ब्रह्मज्ञान के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति तथा उसके स्वरूप का वर्णन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इससे प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है—ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर शास्त्रानुमोदित उपायों—विधियों से उसका साक्षात्कार कर मोक्षलाभ करना। विभिन्न

विचारों के प्रत्याख्यान की मुख्य भावना न होकर स्वाभीष्ट का उपपादन ही सूत्रकार का परम ध्येय प्रतीत होता है।

शंकराचार्य को बौद्ध मन्तव्यों का निराकरण अभीष्ट था। उन्होंने अपना समस्त जीवन बौद्ध प्रत्याख्यान में लगाया। बौद्धदर्शन ब्रह्म की सत्ता को नकारता है, जबकि ब्रह्मसूत्रों में मुख्यरूप से उसका प्रतिपादन है। बौद्धमत के प्रत्याख्यान के लिए ब्रह्मसूत्र का आधार उपयुक्त था। इसलिए भविष्यत् में अपनी मान्यताओं के प्रचार को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ब्रह्मसूत्रों को आधार बनाकर तदनुकूल उनकी व्याख्या की। भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मसूत्रों के रचयिता द्वापर के अन्त में होनेवाले वेदव्यास हैं। आचार्य शंकर ने इन सूत्रों के आधार पर जिस रूप में बौद्ध-जैन दर्शन का प्रत्याख्यान किया है, वह वेदव्यास के काल से सहस्रों वर्ष बाद विकसित हुआ। इसलिए वेदव्यास का अपने सूत्रों में उस रूप में बौद्ध-जैन दर्शन का प्रत्याख्यान करना किसी प्रकार उपपन्न नहीं होता। जब यह निश्चित है कि ये सूत्र बौद्धदर्शन के विकास से बहुत पहले विद्यमान थे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालिक भावनाओं से अभिभूत होकर अपने काल में व्यवस्थित बौद्धदर्शन के विशिष्ट वादों का सूत्रों के आधार पर प्रत्याख्यान करने की दृष्टि से किया गया सूत्रार्थ ब्रह्मसूत्रकार को अभिमत नहीं था। शंकराचार्य की इस प्रवृत्ति में स्वमतपोषण तथा परमत-निराकरण की भावना प्रबल थी। इस परिप्रेक्ष्य में प्राचीन वैदिक मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए कतिपय सूत्रों पर विचार करना उचित होगा।

भगवद्गीता

भगवद्गीता के प्रवक्ता योगिराज श्रीकृष्ण और सम्पादक वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास हैं। महर्षि वेदव्यास ने मूलतः **'जय'** नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसके श्लोकों की संख्या का निश्चय करना कठिन है। इसके बाद वैशम्पायन ने कुछ बढ़ाकर उसे **'भारत'** का नाम दिया। भारतसंहिता के श्लोकों की संख्या २४००० बताई जाती है। तत्पश्चात् सौति ने यह संख्या एक लाख तक पहुँचाकर उसे वर्तमान में उपलब्ध **'महाभारत'** का नाम दिया। गीता का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर महाभारत का अंग होना निर्विवाद है। सम्पूर्ण

महाभारत की तरह गीता में भी प्राय: उसी अनुपात में प्रक्षिप्त श्लोकों का बढ़ते रहना निश्चित है। महाभारत के समय वैष्णव सम्प्रदाय का अस्तित्व नहीं था परन्तु गीता में प्रक्षिप्त श्लोकों की सबसे अधिक भरमार वैष्णव सम्प्रदाय की ओर से ही की गई है।

महाभारत में वैशम्पायन को व्यासजी का साक्षात् शिष्य लिखा है। वैशम्पायन की 'भारत' संहिता का आधार बहुत-कुछ व्यासजी का 'जय' रहा होगा और क्योंकि उन्होंने वेदों को पढ़कर ही 'भारत' की रचना की थी, इसलिए वैशम्पायन के ग्रन्थ में वेदों से मतभेद नहीं होना चाहिए। गीता के विषय में अलंकारयुक्त यह कथन प्रसिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात्—जितने उपनिषद् हैं वे मानो गौ हैं, श्रीकृष्ण उनका दूध दुहनेवाले हैं, अर्जुन भोक्ता बछड़ा है और दुहा गया जो दूध है वही गीतामृत है। तात्पर्य यह है कि गीता उपनिषदों का सार है। इसलिए गीता में तत्त्वतः उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन होना चाहिए जिनका उल्लेख हमने उपनिषदों के अन्तर्गत किया। यदि कहीं इसके विपरीत मिलता है तो निश्चय ही वह प्रक्षिप्त है। इस बात से सभी सहमत होंगे कि व्यास जैसे गम्भीर सम्पादक द्वारा सम्पादित योगिराज श्री कृष्ण जैसे प्रवक्ता के उपदेश में पुनरुक्ति, परस्पर-विरोध और प्रकरण-विरुद्ध वचन ढूँढने पर भी नहीं मिलने चाहिएँ परन्तु वर्तमान में उपलब्ध गीता में ऐसे दोषों की भरमार है।

गीता के तेरहवें अध्याय में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख इन शब्दों में किया गया है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

इससे स्पष्ट है कि गीता की रचना ब्रह्मसूत्रों के बाद हुई।

वर्तमान गीता के आधार पर कई प्रकार के दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार "इस समय गीता पर जितने भाष्य और टीकाएँ उपलब्ध हैं, वे प्रायः सभी साम्प्रदायिक रीति से लिखी गई हैं। इसलिए गीता भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की समझी जाती है।" अपने अनुकूल एक विचार की पुष्टि के लिए उसके विरुद्ध दूसरे विचारों का प्रत्याख्यान करना साम्प्रदायिक लोगों का

प्रयत्न रहा है। इन सब सम्प्रदायों में शंकराचार्य का सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रचलित है। महाभारत और उसके अन्तर्गत गीता तथा ब्रह्म-सूत्रों के रचयिता वेदव्यास हैं और इन दोनों ग्रन्थों का आधार उपनिषद् हैं। साथ ही समस्त उपनिषद्, ईशोपनिषद् का विस्तार होने से, वेद पर आधारित हैं। ऐसी अवस्था में वेद, उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी दृष्टि से गीता के कतिपय सन्दर्भों पर विचार किया गया है।

उपनिषद्

१. ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।– ईश० १

सृष्टि में जितने पदार्थ हैं वे सब ईश्वर द्वारा व्याप्त या आच्छादित हैं। इसलिए त्यागपूर्वक उनका उपभोग करो। किसी के धन का लोभ मत करो।

यहाँ व्यापकरूप में ईश्वर का और व्याप्यरूप में जगत् का उल्लेख है। साथ ही **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** तथा **'मा गृधः'** के रूप में जिसके लिए विधिनिषेध का निर्देश किया है, जगत् के भोक्ता के रूप में उस जीव का भी स्पष्ट उल्लेख है। **'कस्य'** पद में जीवों के अनेक होने का संकेत भी है। न व्याप्य-व्यापक एक हो सकते हैं, न भोग्य-भोक्ता। इस प्रकार वेदान्त के आधारभूत प्रथम मन्त्र में ही ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है।

यदि एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया जाता है तो जगत्सर्ग होना असम्भव है। न चेतन तत्त्व किसी का उपादान होता है, न उसका कभी परिणाम देखा जाता है। ब्रह्म का परिणाम जगत् हो, तो वह ब्रह्म के समान चेतनरूप होना चाहिए। मृद्विकार जैसे मृद्रूप होते हैं, अन्य विकार भी उपादानसाजात्य को नहीं छोड़ते। यदि ब्रह्म का परिणाम जगत् होता, तो वह कभी जड़ न होता। वस्तुतः चेतन तत्त्व न किसी का कारण होता है, न कार्य। इसलिए एकमात्र तत्त्व ब्रह्म के स्वीकार करने पर जगत्सर्ग होना असम्भव है। सर्ग का होना अनेक कारणों पर अवलम्बित है। चेतन ब्रह्म नियन्ता होने से निमित्तकारण है तथा त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति उपादानकारण। इसी आधार पर कार्यजगत् अपने कारण प्रकृति के समान त्रिगुणात्मक है।

लोक में चेतन की समस्त प्रवृत्तियाँ प्रयोजन से युक्त देखी जाती हैं। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। जगत् की

रचना में ब्रह्म का अपना कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप बताया है—**'अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः'** (अथर्व० १०।८।४४) जगद्रचना में ब्रह्म का भूतानुग्रह प्रयोजन कहा जा सकता है। पातञ्जल योगदर्शन के व्यास-भाष्य (१।२५) में इस भावना को अभिव्यक्त किया है—**'तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ।'** जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग तथा अपवर्ग का सम्पादन करता है। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग० २।१८) यह जगत् जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिए है। यदि जगद्रचना से पूर्व उसका भोक्ता जीव न होता तो परमेश्वर किसके लिए जगद्रचना करता ? **'नासदीय सूक्त'** (ऋ० १०।१२९) के अनुसार जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में परमेश्वर अकेला नहीं था। उस अवस्था में ब्रह्म से अतिरिक्त जिन दो सत्ताओं के विद्यमान होने का उल्लेख है, वे हैं—स्वधा (प्रकृति) तथा रेतोधाः (जीव)। **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** में तृतीया विभक्त्यन्त **'स्वधा'** पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में भी ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति विद्यमान थी। सूक्तगत **'रेतोधा आसन्'** पदों से यह भी स्पष्ट है कि **'स्वधा'** के अतिरिक्त **'रेतस्'** को धारण करनेवाले जीवात्मा भी सर्ग से पूर्व विद्यमान थे। सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के भाष्य में लिखा है—**"रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन् ।"** इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्गकाल में ब्रह्म स्वयं न जगद्रूप में परिणत हुआ और न जीवरूप में। बहुवचनान्त **'रेतोधाः'** से यह भी स्पष्ट है कि जीव संख्या में अनेक या असंख्य थे। इस प्रकार ईशोपनिषद् के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस प्रथम मन्त्र में विस्पष्ट शब्दों में ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

जगत् को भ्रममात्र समझना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह सब उपलब्ध होता है। यह उपलब्धि भ्रम है, ऐसी प्रतीति नहीं होती। संकल्प, श्रम और फल का सामंजस्य बराबर देखा जाता है, जो इस व्यवहार और प्रतीति की सत्यता को सिद्ध करता है। लोक में भ्रमस्थलों का अनुभव वहाँ होता है जहाँ संकल्प, श्रम और फल का सामंजस्य नहीं देखा जाता। जैसे—मरुस्थल में जल की प्रतीति करानेवाले स्थल पर भागकर जाने से जल की उपलब्धि न होने

से श्रम और फल में सामंजस्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को भ्रमपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जगत् की वास्तविक सत्ता न हो तो प्रमाणों से उसकी उपलब्धि न हो। यह लोकसिद्ध अनुभव-जगत् सत्य है एवं भावरूप है—इस स्थिति को प्रमाणित करता है।

२. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
—मु० ३।१।१; श्वेत० ४।६

मुण्डकोपनिषद् में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य **"सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यौ आत्मेश्वरौ"** लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का अनादित्व स्वीकार करते हैं। आगे कहते हैं—**"तयोः परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति। (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम्।"**

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर, तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है—**'आत्मेश्वरौ'** इस समस्त पद में **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** का स्पष्ट निषेध है। शंकर द्वारा यत्र-तत्र प्रयुक्त लिंगोपाधि, मायोपाधि, अविद्योपाधि आदि शब्दों का न कहीं मन्त्र में संकेत है, न उसके भाष्य में।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द इस (वेदमन्त्र) का भाष्य करते हुए लिखते हैं—**"द्वौ अभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ···तयोर्मध्ये एकः जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादु कृत्वा (अत्ति) स्वादिति। (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते।**

जीवेश्वर-प्रतिपादक इस मन्त्र में वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करनेवाले के रूप में जीव का और केवल द्रष्टा के रूप में ईश्वर का कथन करके जीव का ईश्वर से, ईश्वर का जीव से और इन दोनों का प्रकृति से भिन्न होना प्रतिपादित है।[1]

---

१. **पुरुषः सुपर्णः**—शत० ७।४।२।५; **सुपर्णा जीवाः**—आत्मानन्द →

३. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

—मु० ३।१।१२

अर्थात् अनादि नित्य जीव वृक्षरूपी प्रकृति के भोग में निमग्न हो शोक करने लगता है, किन्तु जब वह उसी वृक्ष पर निर्लिप्त भाव से बैठे अपने से भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तो शोकरहित हो जाता है।

यदि जीव वास्तव में ब्रह्म होता या ब्रह्म का ही रूप होता तो ब्रह्म के निर्विकार तथा आनन्दस्वरूप होने से वह किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान, दुःख आदि से ग्रस्त न होता। मन्त्र में **'मुह्यमानः पुरुषः'** तथा **'अन्यमीशम्'** पदों के रहते जीवेश्वर का अभेद सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ की खींचातानी है। वृक्ष के रूप में जड़ प्रकृति का उल्लेख भी सर्वथा स्पष्ट है।

४. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेत० ४।५

लाल, सफेद और काले रंग की एक **'अजा'** है जो अपने ही रूप-रंगवाली अनेक प्रजाओं का सर्जन कर रही है। एक **'अज'** है जो उस अजा से प्रीति करता और उसका भोग करता है। एक दूसरा **'अज'** है जो उस भुक्तभोगा **'अजा'** को छोड़ देता है, अर्थात् उसका भोग नहीं करता। **'अज'** का अर्थ है **अ+ज**=जो पैदा न हो, अजन्मा, अनादि एवं नित्य हो। तीन **'अज'** अर्थात् अनादि हैं—एक भोग्य (1)—सत्त्व (शुक्ल)—रजस् (लोहित)—तमस् (कृष्ण) रूपी प्रकृति; दूसरा उसके भोगनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगने-वाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता। ऋग्वेद (१।१६४।२०) के समान ही उपनिषद्

---

२. **सुपर्णाः शोभनकर्माणो जीवाः**—दयानन्द

३. **द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।**
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः॥—अन्नपूर्णोपनिषद्

४. The tree on which they rest is the body or the world.
—Griffith

के इस सन्दर्भ में ईश्वर, जीव और प्रकृति की भिन्नता का स्पष्ट वर्णन है।

शंकर का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट वर्णन न होने से यहाँ **'अजा'** पद प्रकृति का नहीं, अपितु बकरी का वाचक है किन्तु उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी की कोई प्रासंगिकता नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर **'भुक्तभोगा' 'अनुशेते' 'जहात्येनाम्'** और दो अजों के वाचक **'अज'** आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। **'अजा'** के साथ विशेषण पद भी ऐसे और इतने हैं कि उनके रहते **'प्रकृति'** से भिन्न कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता।[1]

५. **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

—कठ० ५।१३

यहाँ बहुवचननान्त **'नित्यानां'** पद से स्पष्ट है कि नित्य पदार्थ कम-से-कम तीन अवश्य हैं। ये ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं। तीनों के नित्य होने पर भी प्रकृति के परिणामी होने तथा जीव के जन्म-मरण के बन्धन में होने के कारण परमात्मा को **'नित्यो नित्यानाम्'**—नित्यों में नित्य कहा गया है। **'चेतनानाम्'** पद के बहुवचनान्त होने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि चेतन तत्त्व भी अनेक हैं जिनमें एक परमात्मा है। इससे परमात्मा का जीवात्मा से भिन्न होना तथा जीवात्माओं का अनेक होना भी स्पष्ट है।

६. **दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।**
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥—मु० २।१।२

इस मन्त्र का अन्तिम भाग है—**'अक्षरात्परतः परः।'** इस वाक्य का शब्दार्थ है—**'अक्षर'** से **'पर'** और उस **'पर'** से **'पर'**। यहाँ **'अक्षर'**

---

१. **न जायते इत्यजा मूलप्रकृतिरूपा माया।**

—सायण-तैत्ति० आर० भाष्य १०।१०

It would be quite wrong to imagine that 'Ajaa' (अजा) and 'Aja' (अज) are meant here for the she-goat and he-goat. These words, in the sense of unborn, are recognised as early as the hymns of the Rigveda and they occured in the the Upanishad (Sveta. 1-9; 4-5) where the two Ajas are mentioned in the same sense here. —Maxmuller :
Sacred Books of the East, Vol. XV, P. II, p. 250

पद प्रकृति का वाचक है। **'अक्षर'** का प्रकृतिवाचक होना इससे पहले सन्दर्भ (२।१।१) में स्पष्ट है। यहाँ **'सरूपाः'** शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। उस सन्दर्भ में **'अक्षर'** का अर्थ ब्रह्म करने पर उसके कार्य-जगत् की ब्रह्म के साथ समानरूपता माननी होगी जो यथार्थ के विपरीत होगा। कार्यजगत् के साथ प्रकृति की समानरूपता स्पष्ट है। **'अक्षरात्परतः परः'** का तात्पर्य है—अक्षर प्रकृति से पर जीवात्मा, और उससे भी पर ब्रह्म है जिसका वर्णन यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार यहाँ प्रकृति, प्रकृति से पर एवं भिन्न जीवात्मा और उससे भी पर= उत्कृष्ट तथा भिन्न परमात्मा तीनों का स्पष्ट उल्लेख है।

यहाँ प्रकृति उपादान से जगत् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि "ब्रह्म अपने प्रकाशमय स्वरूप में सदा अवस्थित रहता है (दिव्य), अन्दर-बाहर समस्त विश्व में व्याप्त है (बाह्याभ्यन्तर), जो कभी जन्म नहीं लेता (अजन्मा), देहादिबन्धन में कभी नहीं आता—इस कारण प्राण तथा मन एवं इन्द्रियरहित है (अप्राण—अमना) तथा सर्वात्मना शुद्ध एवं क्लेश, कर्म, विपाक आदि से सर्वथा अछूता है। दिव्य, अमूर्त्त आदि विशेषणों द्वारा जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, वह इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, क्लेश-कर्मादि से अभिभूत जीवात्मा कैसे हो सकता है? वेदान्तदर्शन (१।२।२२) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि "इस मन्त्र में दिये हुए **'दिव्य'** आदि विशेषण जीवात्मा के नहीं हो सकते।" यहाँ तक तो ठीक कहा परन्तु तभी उन्हें अपने अद्वैतवाद का स्मरण हो आया और तत्काल कह डाला कि "जीवात्मा अविद्या के कारण अपने-आपको नामरूप-वाला समझता है।"[1] शंकर की यह अपनी कल्पना है, क्योंकि न मन्त्र में इस बात का कोई संकेत है और न पूर्वापर प्रसंग में।

७. भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।
—श्वेत० १।१२

वेदादि शास्त्रों में **'ब्रह्म'** पद ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है। वेद में **'ज्येष्ठ'** पूर्वक ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है, **'इदं'** पूर्वक जीव का तथा **'महत्'** पूर्वक प्रकृति का। इस प्रकार ब्रह्म अर्थात्

---

१. **न ह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शरीरस्योपपद्यते।**—शा० भा० १।२।२२

महानता के ये तीन रूप हैं। स्थल—प्रकरण के अनुसार अर्थ का निर्धारण होता है। उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में वह भोक्ता के रूप में जीव का, भोग्य के रूप में प्रकृति का तथा प्रेरयिता के रूप में परमेश्वर का वाचक होने से त्रिविध है।

८. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्न्यो ये च त्रिणाचिकेता॥

—कठ० ३।१

यहाँ द्विवचनान्त पदों से जिन दो तत्त्वों का वर्णन है, वे जीवात्मा और परमात्मा हैं, अन्य किन्हीं दो के संकेत की यहाँ सम्भावना नहीं है। दोनों 'ऋत' का पान करनेवाले हैं। 'ऋत' का अर्थ है सत्य अथवा नियत व्यवस्था। जीवात्मा व्यवस्थापूर्वक कृतकर्मों का फल भोगता और आगे कर्मानुष्ठान में लगा रहता है—यह उसका ऋतपान है। परमात्मा अपनी व्यवस्था के अनुसार विश्व की उत्पत्ति, पालन, लय आदि में संलग्न रहता है—यह परमात्मा का ऋतपान है। ये दोनों गुहा में प्रविष्ट हैं। उपनिषदों के अध्यात्म प्रकरण में 'गुहा' पद सर्वत्र मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश के लिए प्रयुक्त हुआ है। जीवात्मा का यह मुख्य निवासस्थान है। इसलिए उसका यहाँ प्रवेश अथवा विद्यमान होना निश्चित है। ब्रह्म, यद्यपि सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी है, पर आत्मा द्वारा उसका साक्षात्कार इसी प्रदेश में होना सम्भव है। उपासना के प्रसंग में इसी भावना से उसका यहाँ प्रवेश अर्थात् विद्यमान होना निर्दिष्ट किया गया है। जीवात्मा का कार्यक्षेत्र देह-मात्र है और ब्रह्म का समस्त विश्व। छाया और घाम अर्थात् अन्धकार और प्रकाश के समान एक अल्पज्ञ और दूसरा सर्वज्ञ है। गुहा के रूप में मस्तिष्कगत हृदय प्रकृति का उपलक्षण है।

९. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परः किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ —कठ० ३।११

इस सन्दर्भ के अनुसार ब्रह्माण्ड के दो रूप हैं—एक दृश्य जिसे महत्, व्यक्त अथवा विकृति कहते हैं; दूसरा अदृश्य, अर्थात् जो दृश्य से पहले था; जिसमें सत्त्व, रजस् और तमस् साम्यावस्था में थे। इसलिए वह अव्यक्त था। प्रकृति का ही अपर नाम अव्यक्त है। बाह्य जगत् के 'महत्' अर्थात् व्यक्त प्रकृति की अपेक्षा अव्यक्त प्रकृति पर=सूक्ष्म है और इस अव्यक्त प्रकृति से पर=उत्कृष्ट पुरुष अर्थात्

परमात्मा है। परमात्मा से परे कुछ नहीं है। वह अन्तिम सीमा है।

उक्त दोनों सन्दर्भों में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्ट वर्णन है। प्रकारान्तर से यहाँ यह भी कह दिया गया है कि व्यक्त जगत् अव्यक्त प्रकृति का परिणाम है। ब्रह्म तो सदा व्यक्त है। उसका आविर्भाव या तिरोभाव सम्भव नहीं। इसलिए जिसे अव्यक्त कहा गया है, वह प्रकृति ही है जो व्यक्त जगत् का उपादानकारण है परन्तु जड़ होने से वह परमेश्वर के ईक्षण द्वारा ही जगद्रूप में परिणत होती है और कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए भी जीवात्मा उसी की व्यवस्थानुसार कर्मफल भोगता है।

शंकर को मानो **'प्रकृति'** या **'प्रधान'** शब्दों से चिढ़ (allergy) है। वह प्रधान के पर्यायवाची **'अव्यक्त'** को जगत् का उपादानकारण मानने को तैयार हैं।[1] हमें कोई आपत्ति नहीं, यदि शंकर जगत् के उपादानकारण के रूप में 'अव्यक्त' को स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह प्रधान या प्रकृति का ही अपर नाम है, ब्रह्म का नहीं।

वास्तव में कठोपनिषद् के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि एक जिज्ञासु नचिकेता के रूप में जीवात्मा है, दूसरा भोगरूप प्राकृत जगत् है जिसका प्रलोभन देकर यमाचार्य नचिकेता को उससे विमुख करना चाहता है और जिसे नचिकेता **'श्वोभावाः'** कहकर ठुकरा देता है और तीसरा ब्रह्म है जिसे जानने के लिए नचिकेता यमाचार्य के पास आया है।

१०. **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।**

—श्वेत० १।९

दो **'अज'** हैं—**'ज्ञ'** तथा **'अ ज्ञ'**। **'ज्ञ'** सर्वत्र ब्रह्म है, **'अ ज्ञ'** अल्पज्ञ जीव है। इन्हीं को यहाँ **'ईश'** और **'अनीश'** कहा है। इनमें **'ईश'** नियन्ता है और **'अनीश'** नियम्य। इन दो 'अज्ञों' से अन्य एक और अजन्मा तत्त्व=अजा है जो भोक्ता के लिए भोग्य अर्थों से युक्त है। यह त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है। इसी विषय में आगे (श्वेत० १।१०) कहा है—**'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते।'** वह जगद्रूप

---

१. **यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, परिकल्प्यताम्।**

What is there in a name? The rose will smell as sweet by any other name.

में परिणत होनेवाला जड़तत्त्व प्रधान है, और अमृत अक्षर ब्रह्म है, जो एकमात्र देव प्रकृति और जीवात्माओं पर नियन्त्रण करता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति को अनेकत्र अजन्मा कहा गया है (श्वेत० ४।५), (मु० २।१।२)। जगत् के उपादान कारण प्रकृति को अक्षर—अविनाशी कहने के साथ-साथ ब्रह्म के नित्यत्व का गान तो शास्त्र में सर्वत्र उपलब्ध है। **"स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।"** (श्वेत० ६।९) वह सर्वज्ञ परमात्मा जगत् का कारण है, करणों के अधिप जीवात्माओं का वह अधिप—नियन्ता है, न उसका कोई जनिता है, न कोई नियन्ता है। प्रलय-दशा में जब कार्यजगत् का कोई पदार्थ विद्यमान नहीं रहता, तब स्वधा=प्रकृति के साथ एकमात्र शुद्ध चेतन तत्त्व ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है—**'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** (ऋ० १०।१२९।२)। कार्यमात्र के न रहने पर इन तत्त्वों का विद्यमान रहना यह स्पष्ट करता है कि ये सब अजन्मा तत्त्व हैं। वस्तुतः चेतन तत्त्व तो न किसी पदार्थ का उपादान कारण होता है और न किसी का कार्य।

११. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—श्वेत० ३।८

मैं उस प्रकाशस्वरूप परब्रह्म को जानूँ जो अचेतन प्रकृति (प्राकृत जगत्) से पर—उत्कृष्ट है, क्योंकि उसी को जानकर जीवात्मा मृत्यु-दुःख से छूटकर मोक्षलाभ करता है। इस सन्दर्भ में **'महत्'** पद का प्रयोग परमात्मा के लिए हुआ है—**'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'** (कठ० १।२।२२)। प्रकाश चैतन्य का तथा अन्धकार जड़ का प्रतीक है। परमेश्वर को **'आदित्यवर्ण'** बताने के बाद 'अन्धकार से परे' (**तमसः परस्तात्**) कहना अनावश्यक है। इसलिए यहाँ 'तमस्' पद जड़ प्रकृति का बोधक है। वेद में **'तमस्'** प्रकृति को कहा है—**'तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे'** (ऋ० १०।१२९।३)—सर्ग से पूर्व प्रकृति अन्धकार से ढकी थी।

इस प्रकार इस सन्दर्भ में **'आदित्यवर्ण पुरुष'** के रूप में परमात्मा का, उसको जानकर मोक्षलाभ करनेवाले जीवात्मा का और **'तमस्'** नाम से प्रकृति का वर्णन हुआ है। ज्ञाता जीव ज्ञेय प्रकाशस्वरूप ब्रह्म से और चेतन ब्रह्म जड़ प्रकृति (तमस्) से भिन्न है।

कतिपय विवेच्य सन्दर्भ

उपर्युक्त विवेचन से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध है। परन्तु उपनिषदादि में कहीं-कहीं ऐसे वाक्य या वाक्यांश मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई सत्ता नहीं है और समस्त आनुभविक जगत् उसी का रूप है। यहाँ कतिपय ऐसे सन्दर्भों पर विचार किया गया है।

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।—छा० ३।१४।१

आचार्य शंकर ने इस सन्दर्भ के प्रथम वाक्य **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की योजना इस प्रकार की है—"यह सब जगत् ब्रह्म है, ब्रह्म से उत्पन्न होता, ब्रह्म में लीन होता और ब्रह्म में अभिप्राणित रहता है, अर्थात् यह जगत् यथार्थ में ब्रह्म है। ब्रह्म ही जगद्रूप है। कार्य-कारण में अनन्यत्व होने से ब्रह्म से पृथक् जगत् की कोई सत्ता नहीं, इसलिए दोनों में तादात्म्यभाव है।[1] प्रलयदशा में एकमात्र सत्ता सर्गकाल में नामरूपात्मक जगत् में परिणत हो जाती है। वस्तुतः यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने, उसी में अभिप्राणित होने और उसी में लीन होने से ब्रह्म है। शान्त हुआ उपासना करे।"

जिस प्रकार शरीर के अंग तभी तक सार्थक होते हैं, जब तक वे शरीर के साथ जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार प्रकरणस्थ शब्द ही ठीक अर्थ देने में समर्थ होते हैं। प्रकरण से कटकर वे अनर्थ का कारण बन जाते हैं। 'यह सब जगत् ब्रह्म का ही रूप है'—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का यह अर्थ प्रसंगानुकूल न होने से सर्वथा अशुद्ध है। आचार्य शंकर और तदनुयायी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत पदों की योजना में यह स्पष्ट नहीं होता कि **'उपासीत'** क्रिया का कर्म क्या है? उपासक किसकी उपासना करे? फिर, यदि सब जगत् ब्रह्म ही है, अर्थात् दोनों में तादात्म्यभाव है तो जगत् की उपासना में ही क्या दोष है? इसके अतिरिक्त सब जगत् को ब्रह्म मानकर उसकी उत्पत्ति आदि का कथन निरर्थक है। ब्रह्म तो सदा वर्तमान है, उसकी उत्पत्ति और प्रलय कैसे? वस्तुतः

---

१. **अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वात्।**
—शा० भा० २।१।२०

'उपासीत' क्रिया का कर्म **'ब्रह्म'** है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[1] का सम्वन्ध **'तज्जलान्'** के साथ होना चाहिए। इस प्रकार इस सन्दर्भ का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए—**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तः (सन् जिज्ञासु) ब्रह्म उपासीत।"**

इस सन्दर्भ का सीधा अर्थ है—"यह सब ब्रह्म ही है। **तज्ज + तल्ल + तदन्** (**तज्जलानिति**) अर्थात् यह सब जगत् उसी (ब्रह्म) से उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में प्राण धारण करता है। ऐसा जान, शान्त होकर उसी की उपासना करे (**शान्त उपासीत**)। अव (**अथ**) निश्चय ही (**खलु**) मनुष्य वासनामय है (**क्रतुमयः पुरुषः**) अर्थात् जैसा वह विचार करता है, वैसा ही वह बन जाता है। जैसी वासना इस लोक में होती है (**यथा क्रतुरस्मिल्लोके भवति**) वैसी ही यहाँ से मरकर (पश्चात् की योनि में) होती है। इसलिए वह सदा उत्तम कर्म करे (**सः क्रतुं कुर्वीत**)।"

यहाँ स्पष्ट ही उपासना का प्रकरण है। ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए जहाँ जीव को वासनामय बताकर शान्तभाव से ब्रह्म की उपासना के लिए कहा गया है, वहाँ ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हुए उसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण कहा गया है। इतने सन्दर्भ में प्रथम ब्रह्म की उपासना का उपक्रम कर उपासक जीव की स्थिति को स्पष्ट किया है। इससे यह निश्चित होता है कि यहाँ ब्रह्म उपास्य और जीव उपासक है। जैसे **'मञ्चा क्रोशन्ति'** में **'मञ्चाः'** का अर्थ **'मञ्चस्थपुरुषाः'** होता है, वैसे ही तात्स्थ्योपाधि से **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का तात्पर्य है कि यह सब जगत् **'ब्रह्म'** अर्थात् **'ब्रह्मस्थ'** है। साहचर्य तथा पूर्वापर प्रसंग और अभिप्राय को देखते हुए **'इदम्'** पद का अन्वय **'सर्वम्'** के साथ न होकर **'ब्रह्म'** के साथ ही हो सकता है। जैसे **'इदं सर्वं घृतम्'** का अर्थ होता है—'यह सब घृत है' अर्थात् इसमें अन्य किसी वस्तु का मिश्रण नहीं है, वैसे ही **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का अर्थ है—'निश्चय ही यह सब ब्रह्म शुद्ध (**शुद्धमपाप-विद्धम्**) ब्रह्म है अर्थात् इस चेतन, अखण्डैकरस ब्रह्म में माया, अविद्या

१. **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'** इस वाक्य में 'ब्रह्म' पद ब्रह्माण्डपरक भी हो सकता है। अन्यत्र (श्वेत० १।१, मु० १।१।८ व १।१।९ तथा ऋग्० १।३०।५ पर दयानन्दभाष्य) भी इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ में हुआ है (ब्रह्ममुनिभाष्य)। उस अवस्था में **'तत्'** पद **'ब्रह्म'** (परमेश्वर) का परामर्शक होगा।

आदि कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'तज्जलान्' का सीधा अर्थ है कि प्रलय-काल में ब्रह्म अपने भीतर सूक्ष्मरूप में स्थित कारणरूप प्रकृति से सर्ग-काल में सृष्टि को उत्पन्न कर, स्थितिकाल में उसे धारण करता तथा प्रलयकाल में पूर्व की भाँति उसे समेटकर पुनः अपने भीतर धारण कर लेता है। यहाँ उपास्य के रूप में ब्रह्म, उपासक के रूप में जीव तथा उसके भोगापवर्ग के लिए उत्पन्न जगत्, तीनों का एकसाथ उल्लेख होने से यह सन्दर्भ स्पष्टतः त्रिवाद का प्रतिपादक है।

साधारणतया मनुष्य सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहता है। अपने सुख के निमित्त संसार के ऐश्वर्यों को सब-कुछ समझता है। इसी भावना से उपनिषत्कार कहता है—जिस जगत् को तुम अपना सब-कुछ मान रहे हो, जिसकी प्रेरणा से वह उत्पन्न होता, स्थिर रहता और विलय को प्राप्त होता है, उस ब्रह्म को सर्वोपरि जानो और ऐसा मानकर अनित्य संसार की ओर से चित्त को हटाकर, शान्तचित्त हो उसी की उपासना करो। तदनुसार इस सन्दर्भ की योजना इस प्रकार होगी—"**सर्वं खल्विदं तज्जलानिति ज्ञात्वा शान्तः सन्नुपासकः ब्रह्म उपासीत।**" इसी भाव को लेकर गीता में कहा—"**विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**" (गीता १८।५३) अर्थात् अभिमान, धर्म-विरुद्ध बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह आदि का परित्याग करके ममता-रहित और शान्त उपासक ब्रह्मप्राप्ति में समर्थ होता है।

२. **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।**—तै० उ० ३।१

ये प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता, उत्पन्न होकर जिसके आश्रित स्थिर रहता तथा अन्ततः जिसमें लय होता है, उसे जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। उपनिषद् का यह सन्दर्भ—"**इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न**" (ऋ० १०।१२९।७) का विस्तार है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण ब्रह्म है। परन्तु कैसा कारण? कतिपय आचार्य इस उपनिषद्-वचन के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।[1] यद्यपि इस विषय का

१. T. U. (3.1) speaks of that from which, 'Yatah' (यतः), these beings are born. This indicates the material cause of the world. —S. Radhakrishnan : The Brahmasutra, 1.4.2 3

जितना सम्बन्ध भाषाशास्त्र अथवा व्याकरणशास्त्र से है, उतना दर्शनशास्त्र से नहीं, परन्तु इसके महत्त्व को देखते हुए इसका विवेचन आवश्यक है। ऐसे विद्वानों का कहना है कि **'जायते'** क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में पञ्चमी विभक्ति अर्थात् अपादान-कारक होता है, वह उपादानकारण होता है, अर्थात् जायमान वस्तु के उपादानकारण में पञ्चमी विभक्ति होती है। अष्टाध्यायी के जिस सूत्र को इसकी पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है, वह है—**'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः'** (१।४।३०)। परन्तु सभी आचार्य इस विषय में एकमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कारणमात्र में पञ्चमी का प्रयोग होता है, केवल उपादानकारण में नहीं। स्वयं पाणिनि ने इस सूत्र से पूर्व पाँच सूत्रों में अन्य कारणों में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग का विधान किया है। वेद और लोक में अनेकत्र ऐसे प्रयोग मिलते हैं।[१] नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) के जिस मन्त्र की प्रस्तुत सन्दर्भ में ध्वनि है उसमें निर्दिष्ट ब्रह्म के साथ सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में प्रकृति (**स्वधा**) तथा जीव (**रेतोधा**) दोनों की अवस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार इस प्रसंग में ब्रह्म का निमित्तकारण के रूप में ही वर्णन किया है।

३. **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।**
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
—मु० १।१।७

---

१. **तस्मादश्वा अजायन्त।**—यजु० ३१।८; **यस्माद्‌चोऽपातक्षन्।**—अथर्व० १०।७।२०; **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः…यजुस्तस्मादजायत।**—यजु० ३१।७; **आदित्याज्जायते वृष्टिः।**—मनु० ३।७६; **पुत्रात् प्रमोदो जायते; सुधनाज्जायते सुखम्। संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**—गीता २।६२,६३

यहाँ सर्वत्र पंचमी विभक्ति का प्रयोग है, तथापि पंचम्यन्त पदों से किसी उपादानतत्त्व का ग्रहण नहीं किया जा सकता। आदित्य को वृष्टि का, पुत्र को हर्ष का, परमेश्वर को ऋग्वेदादि का अथवा बुद्धिनाश को मनुष्य के नाश का उपादान कैसे कहा जा सकता है? ये केवल जायमान वस्तुओं के निमित्त हैं, अर्थात् करणकारक का काम देते हैं। फिर, संस्कृत में, विशेषतः वैदिक साहित्य में कारकव्यत्यय के बाहुल्य से भी विद्वान् परिचित हैं। ऐसी स्थिति में उपनिषद् का प्रस्तुत सन्दर्भ ब्रह्म को उपादानकारण सिद्ध करने में सहायक नहीं माना जा सकता।

जैसे मकड़ी तन्तुजाल का सृजन करती और उसे समेट लेती है, जैसे जीवित पुरुष के केशलोम प्रकट होते हैं और जैसे पृथिवी से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही अक्षर से विश्व प्रादुर्भूत होता है।

आपाततः देखने में यह सन्दर्भ ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण[1] का प्रतिपादक प्रतीत होता है। इसके अनुसार जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से तन्तुओं को निकालकर जाला बनाती और अपने भीतर ही समेट लेती है, उसी प्रकार परमात्मा अपने से भिन्न प्रकृति की अपेक्षा किये विना जगत् की रचना और प्रलय करता है। परन्तु तनिक-सा विचार करते ही इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। निमित्तकारण स्वयं अविकारी रहते हुए उपादानकारण में विकृति उत्पन्न करके रचना करता है। अविकारी निमित्त और विकारी उपादान दोनों एक नहीं हो सकते। निमित्त तथा उपादान का एक या अभिन्न होना कहीं नहीं देखा जाता। बढ़ई को स्वयं मेज़ बनते या जुलाहे को स्वयं वस्त्र बनते कभी नहीं देखा जाता। लकड़ी और सूत के सहयोग से ही बढ़ई और जुलाहा मेज़ या वस्त्र बना पाते हैं। तब ब्रह्म ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है? वस्तुतः न कोई निरवयव तत्त्व परिणामी हो सकता है और न अपरिणामी तत्त्व किसी का उपादान हो सकता है। यदि यथार्थ सत्ता एक है और वह चेतन एवं अपरिणामी है तो वह केवल निमित्तकारण ही हो सकती है।

जिन दृष्टान्तों द्वारा यहाँ ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उनसे तो निमित्त तथा उपादान कारणों का पृथक्-पृथक् होना स्पष्ट होता है। **'अक्षर'** पद ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों का वाचक है और उसके अर्थ का निर्धारण प्रकरणानुसार पूर्वापर प्रसंग को देखकर होता है। अक्षरब्रह्म जगत् को उत्पन्न करता है, इस अर्थ को युक्तिपूर्वक स्पष्ट करने के लिए उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—मकड़ी का जाला बुनना, जीवित मनुष्य से केश-नख आदि का उत्पन्न होना तथा पृथिवी से ओषधियों का प्रादुर्भाव होना। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्ति को ठीक तरह से समझने के लिए सन्दर्भान्तर्गत **'यथा' 'तथा'** और **'सतः पुरुषात्'** पदों के स्वारस्य पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम दृष्टान्त के अनुसार जिस

१. एक ही तत्त्व के निमित्त तथा उपादानकारण होने को **अभिन्ननिमित्तोपादानकारण** कहते हैं।

प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत् को बनाता है। देखना यह है कि मकड़ी जाले को किस प्रकार बनाती है। एक विशेष प्रकार के भौतिक देह तथा उसमें अधिष्ठित जीव-चेतन के संयुक्त रूप का नाम मकड़ी है। जाला बनाने में उसके प्रकृत देह के अवयवों का उपयोग होता है और इस उपयोग को करनेवाली वह चेतन सत्ता है जो वहाँ अधिष्ठित है। यदि शरीर न हो तो केवल चेतन उस जाले की रचना नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि चेतन स्फुरण वहाँ न हो तो केवल शरीर जाला बनाने में असमर्थ होगा। इसलिए जाला तभी तक बनता है जब तक मकड़ी जीवित रहती है। न मृत शरीर से जाला बनते देखा गया है और न शरीर से निकलने के बाद मकड़ी की विदेह आत्मा को कहीं जाला बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकड़ी स्वयं तन्तुजाल में परिणत नहीं होती; चेतना के वहाँ रहते उसके भौतिक शरीर के अंश ही तन्तुजाल में परिणत होते हैं। इस प्रकार मकड़ी का जड़ शरीर तन्तुजाल की उत्पत्ति में उपादानकारण और उसमें व्याप्त जीवात्मा निमित्तकारण है। इसी प्रकार व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल जगत् की रचना करता है। ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं होता। उसकी प्रेरणा से प्रकृति ही इस विश्व के रूप में परिणत होती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगद्रचना में परमात्मा निमित्तकारण है और प्रकृति उसका उपादानकारण, और क्योंकि परमात्मा का कोई कार्य निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, जगत् के भोक्ता के रूप में जीवात्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।

दूसरा दृष्टान्त सद्रूप पुरुष से केश-नख आदि की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखता है। यहाँ भी सदेह चेतन का नाम पुरुष है--अचेतन देह की संज्ञा शव है और विदेह जीव की आत्मा। शरीर में केश, लोम, नख आदि की उत्पत्ति शरीर के भौतिक तत्त्वों से होती है, आत्मा स्वयं केश-नख आदि के रूप में परिणत नहीं होता। जब तक शरीर में आत्मा बैठा है, तभी तक वहाँ केश-नख आदि की उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिकों के अनुसार बाल व नाखून उनकी जड़ों में रक्षित कोशिकाओं के कारण बढ़ा करते हैं। उन्हें रक्तप्रवाह से पोषण मिलता है। मृत्यु होने पर हृदय काम करना बन्द कर देता है। परिणामतः कोशिकाओं को रक्तप्रवाह से पोषण मिलना बन्द हो जाता है। इसलिए

बालों व नाख़ूनों की उत्पत्ति या वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। केश व लोम देह का परिणाम हैं, आत्मा अथवा चेतन पुरुष का नहीं। तथापि **'सतः पुरुषात्'** कहने से स्पष्ट है कि चेतन के अधिष्ठातृरूप सद्भाव में ही देह से उनका प्रादुर्भाव सम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्म के अधिष्ठातृत्व में मूल उपादान प्रकृति से यह विश्व उत्पन्न होता है।

उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ में तीसरा दृष्टान्त है—**'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति'** जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधि आदि के प्रादुर्भाव में पृथिव्यादि तत्त्व केवल निमित्त हैं। उनके उपादानतत्त्व उनके बीज हैं जो पृथिवी का आश्रय पाकर अंकुरित हो ओषधि-वनस्पतियों में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति से जगत् का परिणाम होने में ब्रह्म उस सबका अधिष्ठान होने से केवल निमित्तकारण है।

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतन तत्त्व स्वतः किसी कार्यरूप में परिणत होता है और न चेतन तत्त्व की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति ही किसी कार्य में परिणत होती है। फलतः स्पष्ट परिणाम सामने आता है कि केवल ब्रह्म जगत् का निमित्त तथा उपादानकारण नहीं है, अपितु वह जगत् के जन्मादि का निमित्तकारण है और प्रकृति उसका उपादानकारण। इसलिए यदि शास्त्र में कहीं इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है तो उसका यही तात्पर्य समझना चाहिए कि वहाँ ब्रह्म के शरीररूप से प्रकृति का विन्यास—कथन है। प्रकृति की ब्रह्म के शरीररूप में अनेकत्र कल्पना की गई है। अव्यक्त प्रकृति के ब्रह्म-शरीररूप में वर्णित होने से ब्रह्म की कारणता में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं है।

४. यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

—मु० २।१।१

जैसे जलती हुई आग से सहस्रों चिनगारियाँ उसके समान निकलती हैं, वैसे ही अक्षर (तत्त्व) से विविध भाव=पदार्थ प्रकट होते और अवसर आने पर उसी में लीन हो जाते हैं। यहाँ **'अक्षर'** पद स्पष्टतः प्रकृति का वाचक है, क्योंकि अक्षर तत्त्व से समानरूप पदार्थों की उत्पत्ति का कथन है। जड़ जगत् चेतन ब्रह्म के समान नहीं

है। **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'** के अनुसार जगत् का कारण उसके समान जड़ होना चाहिए। इसलिए यहाँ **'अक्षर'** पद जगत् के उपादानकारण प्रकृति को कहता है। अन्यथा मानने पर सन्दर्भ में पठित **'सरूपाः'** पद असंगत हो जाएगा। **'प्रकृति'** अर्थ का अगले सन्दर्भ (२।१।२) **'अक्षरात्परतः परः'** से भी सामंजस्य हो जाता है, जहाँ ब्रह्म का निर्देश करते हुए उसे 'अक्षर' से परात्पर कहा है। यदि 'अक्षर' पद से यहाँ ब्रह्म का ग्रहण किया जाए तो ब्रह्म को ब्रह्म से परात्पर कहना निरर्थक होगा। प्रकृति अर्थ मानने पर वाक्यार्थ सर्वथा संगत होता है। प्रकृति से पर—उत्कृष्ट चेतन जीवातमतत्व है, और उस (जीवात्मतत्त्व) से पर–उत्कृष्ट चेतनतत्त्व ब्रह्म है। इस प्रकार अक्षर =प्रकृति से ब्रह्म परात्पर है। उसी के लिए ऋग्वेद (१०।१२९।२) में कहा—**'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'** उससे पर=उत्कृष्ट अन्य कुछ नहीं है। 'अक्षर' से उत्पन्न पदार्थों का उससे सारूप्य भी 'अक्षर' को प्रकृतिवाचक मानने पर ही बनता है।

भास्कर द्वारा प्रवर्तित भेदाभेदभाव के अनुसार जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। प्रस्तुत सन्दर्भ के आधार पर जीवात्माओं तथा निरपेक्ष ब्रह्म के मध्यगत सम्बन्ध की तुलना अग्नि से निकलती हुई चिनगारियों से की जाती है। जिस प्रकार अग्नि से निकलती हुई चिनगारियाँ अग्नि से निःसृत होने के कारण उससे सर्वथा भिन्न नहीं हैं, परन्तु वे उससे सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं, क्योंकि उस अवस्था में उन्हें न तो अग्नि से पृथक् रूप में परस्पर पहचाना जा सकता है और न उनमें परस्पर भेद किया जा सकता है।

मुण्डकोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण में **'अक्षर'** पद निश्चय ही प्रकृति का वाचक है। उसी से सर्गकाल में समानरूप से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलयकाल में उसी में लय होने[1] का यहाँ उल्लेख हुआ है। पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए यहाँ यही अर्थ युक्त है। जैसे जलती हुई आग से सहस्रों चिनगारियाँ उसके समानरूप प्रादुर्भूत होती हैं, वैसे ही अक्षर से विविध भाव[2] उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होनेवाले विविध भावों (पदार्थों) को **'सरूपाः'** विशेषण द्वारा कारण के समान कहा

१. **नाशः कारणलयः**।—सांख्य १।८६

२. आचार्य शंकर तथा पं० भीमसेन आदि अनेक विद्वानों ने **'भावाः'** का अर्थ **'पदार्थाः'** किया है।—नारायणस्वामी

है। जगत् का कारण उसके समान होना चाहिए। यदि 'अक्षर' पद ब्रह्म का वाचक होता तो आनुभविक जगत् जड़ न होकर ब्रह्म के समान चेतन होता।

यदि दुर्जनतोषन्याय से यहाँ 'अक्षर' पद से ब्रह्म का ग्रहण किया जाए तो अनेक विसंगतियों के कारण इससे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। वस्तुत: अग्नि और उससे निकलनेवाली चिंगारियों के समान चेतन तत्त्वों में अंशांशिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। अग्नि अनेक परमाणुओं के संयोग से बनती है, इसलिए उससे चिंगारियाँ निकल सकती हैं। परन्तु ब्रह्म संयुक्त द्रव्य नहीं है, अतएव उसके अंश बनकर उससे वियुक्त नहीं हो सकते। अग्नि की चिंगारियाँ अग्नि से छिटककर आकाश अर्थात् रिक्त स्थान में चली जाती हैं। परमेश्वर के विभु अर्थात् सर्वत्र ओतप्रोत होने से कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। तब उसका अंश (जीव) अपने अंशी (परमात्मा) से छिटककर कहाँ जाएगा? गति का सिद्धान्त है कि कोई वस्तु न वहाँ गति करती है जहाँ वह होती है और न वहाँ जहाँ वह नहीं होती। जहाँ कोई वस्तु होती है वहाँ से जहाँ वह नहीं होती वहाँ को गति करती है।[1] फिर, अग्नि से जितनी भी चिंगारियाँ निकलेंगी, उतना ही अग्नि का ह्रास होगा। इसी प्रकार यदि जीवात्मा चिंगारियों के समान परमात्मा से अलग होकर दूर-दूर जा पड़ेंगे तो परमात्मा का ह्रास होकर वह विकारी हो जाएगा। चिंगारियाँ एक बार अग्नि से निकलकर फिर उसमें कभी नहीं लौटतीं। परन्तु अग्नि से निकलने वाली चिंगारियों के समान जीवात्माओं का परमात्मा से अभेद माननेवाले समय आने पर उन चिंगारियों का लौटकर पुन: परमात्मा में समा जाना मानते हैं। इस प्रकार परमात्मा का ह्रास एवं विकास होता रहेगा।

अग्नि से जितनी चिंगारियाँ निकलती हैं, वे सब एक ही अग्नि-पुंज से नि:सृत होने के कारण गुणों की दृष्टि से एक-दूसरे के समान होती हैं, परन्तु जीवात्माओं के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे लगभग सभी बातों में एक-दूसरे से भिन्न हैं। अंशी के गुण उसके सभी अंशों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। इस न्याय से एक

---

१. A thing does not move where it is and it cann ot move where it is not. It moves from where it is to where i t is not.

ही मूल=ब्रह्म से निःसृत सभी अंशों=जीवात्माओं में ब्रह्म के समस्त गुणों का दर्शन होना चाहिए परन्तु अरबों मनुष्यों और मनुष्येतर असंख्य प्राणियों को देखकर कौन कह सकता है कि अज्ञान, अविद्या, भ्रान्ति आदि से अभिभूत ये समस्त जीव अग्नि की चिंगारियों के समान किसी नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म के अंश हैं ! हाँ, किञ्चित् साधर्म्य के कारण जीव का अंश या उसकी छाया कह दिया जाए तो और बात है किन्तु यह कथन मात्र औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं ।

५. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

—मु० ३।२।८

जैसी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में अन्तर्हित हो जाती हैं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष नामरूप से छूटकर दिव्य परम पुरुष को प्राप्त हो जाता है ।

वर्षाकाल में आकाश से जो बूँदें गिरती हैं, वे समुद्र से आती हैं और नदी-नालों के रूप में बहकर अन्ततः समुद्र में जा मिलती हैं । इसी प्रकार जीवात्माओं का परमात्मा से प्रादुर्भाव होता है और अन्ततः उसी में उनका विलय हो जाता है । इस दृष्टान्त से यह समझा जाता है कि परमात्मा से उद्भूत जीवात्मा के कालान्तर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है । यथार्थ में ऐसा नहीं है । वस्तुतः इस दृष्टान्त से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद सिद्ध नहीं होता । कठोपनिषद् में कहा है—"जैसे शुद्ध जल में शुद्ध जल मिल जाता है, वैसे ही मुक्त आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है[1] ।" उपनिषद् के इस वचन से जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट होता है, अभेद नहीं । यदि अभेद होता तो मिलने का प्रश्न ही न उठता । संयोग सदा दो का होता है । एक में संयोग—सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि यह कहा जाए कि पहले एक के दो हो गये थे, पुनः दोनों का मेल हो गया तो एक से दो में विभक्त होनेवाले पदार्थ का सावयव एवं परिणामी होना सिद्ध है । किन्तु ब्रह्म निरवयव तथा अपरिणामी है, अतएव उसके वियुक्त और तदनन्तर संयुक्त होने का

---

१. यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।—२।१।१५

प्रश्न ही नहीं उठता। फिर, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि भेद को दर्शाती हैं। **'तादृगेव भवति'** (वैसा ही हो जाता है) ये शब्द ही द्वैतसिद्धि में प्रमाण हैं। यह प्रत्यक्ष है कि जल में जल मिलकर बढ़ता है, नष्ट नहीं होता।

सामान्यतः समुद्र जल का भण्डार होता है। असंख्य बिन्दुओं से मिलकर समुद्र बनता है। इन बिन्दुओं से पृथक् समुद्र का कोई अस्तित्व नहीं। यदि किसी कारण से बिन्दु सूख जाएँ तो समुद्र का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। यदि समुद्र की भाँति ब्रह्म को भी असंख्य जीवों का संघात माना जाएगा तो ब्रह्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा।

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक उसका बाह्यरूप—उसका आकार, प्रकार, रंगरूप आदि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्त्व कहते हैं। नाम-रूप शरीर के होते हैं, जीवों के नहीं। रूप जन्म के साथ आता है, नाम पुकारने की सुविधा के लिए लोगों के द्वारा दिया जाता है। समय के साथ-साथ रूप बदलता रहता है, कभी-कभी नाम भी बदल जाता है। संसार से विदा होते समय मनुष्य अपने नाम-रूप का परित्याग कर देता है, किन्तु उसकी सत्ता तब भी बनी रहती है। नदियों के समुद्र में मिलने के सम्बन्ध में जो कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि समुद्र में मिलते समय नदियाँ अपने नाम और विशेष रूप को छोड़ देती हैं, पर नदी के रूप में समुद्र में मिलने पर भी उनका वस्तुतत्त्व=जल नष्ट नहीं होता—उसकी एक भी बूँद स्वरूप से अपने वस्तुतत्त्व का परित्याग नहीं करती। यही कारण है कि नदी का जल समुद्र में मिलकर उसके जल की मात्रा को बढ़ा देता है। जल नष्ट हो गया होता तो ऐसा कभी न होता। जलरूप में, नदी और समुद्र के जल समान हैं। इतना अवश्य है कि समुद्रजल के लावण्य से नदीजल आप्लावित हो जाता है।

जब जीव मुक्त हो जाता है तो शरीर नहीं रहता, मात्र जीव रह जाता है। तब, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलने के पश्चात् अपना गंगा-यमुना का नाम और रूप खो बैठती हैं, उसी प्रकार मुक्त जीव अपने बाह्यरूप—शरीर और देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नामों को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त होता है, परन्तु अपने नाम-रूप को खोकर भी मुक्तजीव का वस्तुतत्त्व—आत्मतत्त्व नष्ट नहीं होता। हाँ, मुक्तावस्था में वह ब्रह्मानन्द से आप्लावित अवश्य रहता है। बस, जीवात्मा के

परमात्मा में लीन होने का यही तात्पर्य है, अपने अस्तित्व को खो बैठना नहीं।

६. **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्।**—बृहद्० १।४।१०

सर्ग से पूर्व केवल यह ब्रह्म था। उसने अपने-आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। वही इस समस्त कार्यजगत् का उत्पादक है। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि आज भी जो इस तथ्य को जान लेता है, वह वही हो जाता है, अर्थात् आनन्द से आप्लावित हो जाता है। इसके विपरीत जो उपासक, यह समझकर कि उसका उपासक अन्य है, उस ब्रह्म से अन्य की उपासना करता है, वह यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता। इस पूरे सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहनेवाला वह (तत्) है जो सर्ग से पूर्व विद्यमान था (**इदमग्र आसीत्**)। निश्चय ही, सर्ग से पूर्व सबको अपने भीतर धारण करनेवाला परमात्मा वर्तमान था (**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**)। उपनिषत्कार ने अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार यह वाक्य (**अहं ब्रह्मास्मि**) उसी ब्रह्म के द्वारा कहलवाया है। स्वयं उपासक जीवात्मा को यहाँ उपास्य ब्रह्म के रूप में नहीं कहा गया। इस प्रकार **'अहं ब्रह्मास्मि'** का वक्ता स्वयं ब्रह्म है।

यदि इस वाक्य को जीवात्मा की उक्ति माना जाए तो वह मात्र औपचारिक कथन होगा। ऐसी भावना किसी वाक्य या वाक्यांश से प्रतीत हो तो उसे अतिशय भक्ति का उद्रेक जानकर औपचारिक समझना चाहिए, वास्तविक नहीं। अनेकत्र ऐसे वर्णनों में उपासक द्वारा ब्रह्म को माता, पिता, भ्राता, सखा आदि के रूप में सम्बोधित किया गया है जिसे यथार्थ नहीं माना जा सकता। जीव का ब्रह्म से साहचर्य या संयोग-सम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रायः एक-साथ रहने और सहयोग करनेवाले दो व्यक्तियों को लोग 'दो शरीर, एक प्राण' अथवा 'वे दोनों एक ही हैं' कह देते हैं, इसी प्रकार जब जीवात्मा परमेश्वर का-सा गुण-कर्म-स्वभाव बनाकर समाधि-अवस्था में उसका साक्षात्कार करके ब्रह्मानन्द से आप्लावित हो जाता है, तब वह और ब्रह्म एक अर्थात् परस्पर अविरोधी हो जाते हैं। परन्तु इससे यह समझ लेना कि जीव और ब्रह्म वास्तव में एक हैं अथवा ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की अपनी कोई सत्ता नहीं है, युक्तियुक्त नहीं होगा। यह

वाक्य ब्रह्म के साथ जीवात्मा को अत्यधिक अथवा अव्यवहित सान्निध्य का द्योतक हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रकार विचार करने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ 'अहं ब्रह्मस्थोऽस्मि' मानकर किया जाना चाहिए, जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** का अर्थ **'मञ्चस्थपुरुषाः क्रोशन्ति'** किया जाता है।

७. सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

—माण्डूक्य २

इसका सीधा अर्थ इस प्रकार है—(हि) निश्चय से (**एतत्सर्वम्**) यह सब (**ब्रह्म**) ब्रह्म है। (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**ब्रह्म**) ब्रह्म है। (**सः**) वह (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**चतुष्पात्**) चतुष्पात् है।

इससे पूर्व उपनिषद् के पहले मन्त्र में कहा गया है कि 'ओम्' यह एक अक्षर है। उसी का यह सब विस्तार है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब ओङ्कार ही है। और जो इसके अतिरिक्त तीनों कालों से बाहर है वह भी ओङ्कार ही है।[1] अतएव माण्डूक्योपनिषद् में आद्योपान्त उसी ओङ्कार का विस्तृत विवेचन हुआ है। प्रस्तुत सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, वह ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कहा गया है। उपर्युक्त व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट हैं—

१. यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है।
२. यह आत्मा ब्रह्म है।
३. इस आत्मा के चार पाद हैं।

'आत्मा' शब्द सामान्यतया जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। प्रकरण के अनुसार अर्थ का निश्चय होता है। पूर्वापर प्रसंग तथा प्रस्तुत सन्दर्भ को देखते हुए **'अयमात्मा ब्रह्म'** इस वाक्य में **'आप्लृ व्याप्तौ'** से निष्पन्न 'आत्मा' अपने धात्वर्थ के अनुसार ब्रह्म के विशेषण-रूप में सर्वव्यापक अर्थ का वाचक है। जिस प्रकार **'ओं खं ब्रह्म'** का अर्थ 'परमेश्वर आकाश है' न होकर 'परमेश्वर आकाशवत् व्यापक है', उसी प्रकार **'अयमात्मा ब्रह्म'** का अर्थ 'यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म है' न होकर 'यह (आत्मा) सर्वव्यापक तत्त्व (ब्रह्म) महान् है' अथवा 'यह ब्रह्म (आत्मा) सर्वव्यापक है' होगा। इसी

---

१. **ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानम्। भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।**—माण्डूक्य १

प्रकार **'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म'** का अर्थ 'यह सब ब्रह्म=ब्रह्माण्ड है' न होकर तात्स्थ्योपाधि से 'यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म में स्थित है' होगा। यदि यहाँ पर 'आत्मा' को जीवात्मा का वाचक मानकर **'अयमात्मा ब्रह्म'** का अर्थ 'यह जीवात्मा ब्रह्म है' किया जाएगा तो अगले वाक्य **'सोऽय-मात्मा चतुष्पात्'** का अर्थ भी 'यह आत्मा चतुष्पात् है' करना पड़ेगा जो सर्वथा असंगत होगा। जो आत्मा ब्रह्म है वही **(सोऽयं) 'चतुष्पात्'** है। यह जीवात्मा **'चतुष्पात्'** कदापि नहीं हो सकता। वह ब्रह्म ही है, इस बात को आगे आठवें मन्त्र में सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा है कि वह यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर ओङ्कार है जो मात्राओं में अधिष्ठित है। पाद मात्रा हैं और मात्रा पाद हैं और वे मात्रा अकार, उकार व मकार हैं, अर्थात् ब्रह्म के चार पाद ओङ्कार की चार मात्राएँ हैं और ओङ्कार की मात्राएँ ब्रह्म के चार पाद हैं।[1] माण्डूक्य का लक्ष्य ब्रह्म तथा ओङ्कार का तादात्म्य बताना है, जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध करना नहीं।

यदि इस वाक्य का जीवात्मापरक अर्थ करना ही अभिप्रेत हो तो केवल **'अयमात्मा ब्रह्म'** इतने अंश का सम्भव है। उस अवस्था में यह **'तात्स्थ्योपाधि'** अथवा **'तत्सहचरितोपाधि'** से कहा गया भक्तिभाव के अतिरेक का द्योतक है। समाधि-दशा में जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो वह आत्मविभोर होकर कह उठता है—**'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् जो मेरे भीतर व्यापक (आत्मा) है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। आनन्दोल्लास के क्षणों में कहा गया यह वचन अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक वाक्य है। 'जैसे इस शरीर में व्यापक होने से मैं इस शरीर का आत्मा हूँ, वैसे ही मेरी आत्मा में व्यापक होने से वह (ब्रह्म) मेरी आत्मा है।' तथापि व्याप्य-व्यापक भाव से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

८. **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**—छान्दोग्य० ६।२।१

इस सन्दर्भ में **'अद्वितीय'** शब्द से ब्रह्म का एक तथा अन्य पदार्थों से उसका विलक्षण होना सिद्ध होता है। ब्रह्मेतर अन्य पदार्थों के निषेध का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेद से रहित होने से ब्रह्म अद्वितीय है। एक वृक्ष अन्य वृक्षों से

१. **सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति।**

समानता रखता है, परन्तु पत्थरों से असमानता रखता है उसके पत्तों, फलों व फूलों में विविधता पाई जाती है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सजातीय है तथा पशु, वृक्षादि का विजातीय है। एक ही शरीर में स्थित आँख, कान, नाक, हाथ और पैर आदि विभिन्न अंगों में जो भेद है, वह स्वगत है। जीवात्मा ब्रह्म का सजातीय है, क्योंकि दोनों चेतन हैं और अनेक बातों में एक-दूसरे के समान हैं। फिर भी ब्रह्म का अपना वैशिष्ट्य है जिसके कारण वह अपने सजातीय जीव से भिन्न है। जहाँ जीव अनेक हैं, वहाँ ब्रह्म केवल एक है। कोई भी जीव ब्रह्म के समान नहीं है, इसलिए ब्रह्म अद्वितीय है। ब्रह्म के समान प्रकृति नित्य है, किन्तु नित्य होते हुए भी प्रकृति जड़ तथा परिणामी है। प्रकृतिस्थ पदार्थ भी अनेक हैं। इसके विपरीत ब्रह्म चेतन, अपरिणामी तथा एक है। इस प्रकार विजातीय प्रकृति से भी ब्रह्म का वैशिष्ट्य है और परिणामतः वह अद्वितीय है। ब्रह्म निरवयव एवं अखण्ड है, इसलिए उसमें स्वगतभेद भी नहीं है। इस दृष्टि से वह अद्वितीय है।

'अद्वितीय' विशेषण पद है। यह ठीक है कि विशेषण भेदकारक होता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वह प्रवर्त्तक एवं प्रकाशक होता है। 'अद्वितीय' पद ब्रह्म का विशेषण है। व्यावर्त्तक धर्म के रूप में अद्वैत ब्रह्म को जीवों तथा अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है और प्रवर्त्तक एवं प्रकाशक धर्म के रूप में वह ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है। यदि किसी के सम्बन्ध में यह कहा जाए कि वह अद्वितीय विद्वान् है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान अन्य कोई विद्वान् नहीं है, यह नहीं कि उसके अतिरिक्त कोई अन्य विद्वान् संसार में है ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीय कहने का इतना ही अभिप्राय है कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य होने के कारण ब्रह्म के सदृश अन्य कोई नहीं है। ब्रह्म के गुण अपने स्वरूप में निरपेक्ष हैं। वह हर प्रकार से पूर्ण है। उत्कर्ष में न कोई उससे बढ़कर है और न कोई उसके समान। अद्वितीय का यही तात्पर्य है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्रह्म से अतिरिक्त पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पश्वादि चेतन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहकर उपनिषत्कार ने अथर्ववेद के

एतद्विषयक मन्त्र[1] को सूत्रबद्ध करके ब्रह्म के एक होने की पुष्टि की है। समूचे शरीर में एक ही आत्मा है जो इसका संचालन व नियन्त्रण करता है। इसीलिए शरीर का कार्य अबाधरूप से चलता है। इतने विशाल तथा विलक्षण संसार का व्यवस्थित रूप में संचालन इसीलिए सम्भव है, क्योंकि उसका स्वामी[2] तथा नियामक **'एकमेवाद्वितीयम्'** ब्रह्म है। यदि शरीर में एक से अधिक जीवात्मा और ब्रह्माण्ड में एक से अधिक परमात्मा होते तो संघर्ष अनिवार्य होता और सर्वत्र अराजकता होती।

९. स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—छा० ६।८।७

छान्दोग्य के छठे अध्याय के आरम्भ में वर्णन है कि आरुणि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु जब गुरुकुल से अपना अध्ययन समाप्त करके लौटा तो पिता को अपना पुत्र कुछ अभिमानी जान पड़ा। आरुणि समझ गये कि लड़के ने शब्दमात्र को जाना है, आत्मतत्त्व को—अपने स्वरूप को नहीं समझा। तब अपने देहादि पर गर्व करनेवाले श्वेतकेतु को उद्दालक ने यह समझाने का प्रयास किया कि तू प्राकृत देहादि के समान जड़ न होकर ब्रह्म के समान चेतन तत्त्व है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में यथार्थ सत्ता निर्विकार ब्रह्म की है, उसी प्रकार पिण्ड में यथार्थ सत्ता शरीर की नहीं, आत्मा की है। देहादि की रचना अचेतनरूप है, त्रिगुणात्मक है, जबकि आत्मा चेतन एवं त्रिगुणातीत है। आत्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके अनात्मजगत् को उससे भिन्न दिखाकर उसकी हेयता को विवृत किया है। जीवात्मा तथा परमात्मा में तादात्म्य सिद्ध करने के लिए वेदान्ताचार्यों ने **'तत्त्वमसि'** का जो अर्थ किया है, वह उसे उपनिषद् के अन्तर्गत सम्बद्ध वाक्य से काटकर तथा पूर्वापर प्रसंग से पृथक् करके किया है। छान्दोग्य के इस पूरे प्रकरण को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ **'तत्'** पद **'ब्रह्म'** का परामर्शक नहीं है। इस तथ्य का बोध होते ही इस वाक्य का जीव-ब्रह्म के भेदाभेद-विवेचन से कोई सम्बन्ध

---

१. न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एकवृदेक एव। —अथर्व० १३।४।१६-२०

२. पतिरेक आसीत्।

नहीं रहता। इस प्रसंग के ग्यारहवें खण्ड में चेतन-अचेतन के भेद का स्पष्ट वर्णन है। इसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए समस्त प्रकरण में बार-बार आया वाक्य ऊपर उद्धृत किया है। उक्त सन्दर्भ का सीधा अर्थ इस प्रकार है—

"जो यह सूक्ष्म है, यह सब जगत् आत्मा के लिए है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! तुम वही आत्मा हो।"

स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश कर आत्मतत्त्व को उससे भी सूक्ष्म कहा है। जगत् की रचना जीवात्माओं के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए की गई है। अतएव स्थूल से सूक्ष्म तक जितना सद्रूप जड़तत्त्व है, वह सब आत्मा के लिए है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियाँ तथा अनेक भौतिक पदार्थ आत्मा के लिए मात्र साधनरूप हैं। देहादि सब विकारी हैं। जो अविकारी है, वही सत्य है और वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! तुम वही आत्मा हो। जिस प्रकार जीव के निकल जाने पर हरा-भरा वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार जीव के निकल जाने पर यह शरीर मृत कहा जाता है किन्तु जीवात्मा नहीं मरता, वह अमर, अपरिणामी है। हे श्वेतकेतो ! वही आत्मा सत्य है, तुम वही हो। जब तक कोई व्यक्ति इस तथ्य को नहीं जान पाता, तब तक अज्ञान में रहता है; जब उसे जान लेता है, तब कोई सांसारिक ताप उसे नहीं सताता।

इस समस्त प्रकरण में **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** पद विचारणीय है। प्रकरणानुसार **'ऐतदात्म्यम्'** का निर्वचन इस प्रकार किया जाना युक्तियुक्त है—**'एतस्मै आत्मने इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्'**। यहाँ **'इदं सर्वम्'** पदों से जिस वस्तुतत्त्व का निर्देश किया गया है, उसका विशेषण है **'ऐतदात्म्यम्'**। इसका अर्थ होगा—यह सब आत्मा के लिए है।

शंकराचार्य का मत है कि यहाँ **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** पदों के आधार पर जो कुछ यह जगत् दीख रहा है, उसे आत्म-(ब्रह्म)-रूप मानकर श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही (ब्रह्म) है। इस दृष्टि से 'ऐतदात्म्यम्' का निर्वचन इस प्रकार किया जाता है—'एष चासौ आत्मा इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्'। इस निर्वचन के अनुसार ही **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** का अर्थ किया जाता है—यह सब जगत् ही है। इस अर्थ के अनुसार ब्रह्म तथा जगत् में अभेद सिद्ध करने का

प्रयास किया जाता है। तदनुसार यदि जगत् का निर्देश करके श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही है, तो उसे जगत् के समान जड़रूप आत्मा बताया जा रहा है। आत्मा को जड़ कैसे माना जा सकता है? अद्वैत-वादी '**तत्**' पद से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार '**तत्त्वमसि**' का अर्थ (त्वं) तू (तत्) ब्रह्म (**असि**) है' करते हैं। किन्तु इस समस्त प्रकरण में कहीं भी ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। यदि आस-पास भी कहीं होता तो '**तत्**' पद ब्रह्म का परामर्शक हो सकता था, अथवा यहाँ ब्रह्म का अध्याहार किया जा सकता था। सन्दर्भ के अन्तर्गत बार-बार आया '**अणिमा**' पद भी यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध है, परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होने से विभु है। इसके विपरीत जीव का एकदेशी होने से अणु (परिच्छिन्न) होना शास्त्रसम्मत तथा तर्कप्रतिष्ठित है। '**ऐतदात्म्यमिदं**' की व्याख्या के लिए यहाँ जितने भी उदाहरण दिये गये हैं, उन सबमें जड़ व चेतन का भेद दर्शाया है। इसलिए इस पद के प्रचलित अर्थ के युक्तिसंगत न होने से उसके आधार पर 'तत्त्वमसि' से जीव तथा ब्रह्म का तादात्म्य उपपन्न नहीं होता।

छान्दोग्य के छठे प्रपाठक के आठवें खण्ड से प्रपाठक की समाप्ति तक विभिन्न उदाहरणों द्वारा आत्मतत्त्व को समझाने का प्रयास किया गया है। इन उदाहरणों में स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश करके आत्मतत्त्व को उनसे भी सूक्ष्म कहा है। उन सभी प्रसंगों के अन्त में बार-बार कहा है कि वह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी के लिए यह सब जगत् है। जगत् परिणामी है, हेय है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस प्रसंग में देहादि समस्त जड़ जगत् को भिन्न पक्ष में रखकर उससे अतिरिक्त तत्त्व को आत्मा बताया है जो चेतन है।

इस सारे सन्दर्भ में अचेतन से अतिरिक्त चेतन आत्मा के अस्तित्व की स्थापना करके श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयास किया है कि जिस सुन्दर, सुडौल और बलिष्ठ शरीर पर तुम्हें इतना गर्व है, तुम वह शरीर नहीं हो—उससे परे आत्मतत्त्व हो। उसने प्राकृत जगत् से परे आत्मतत्त्व को समझा और उसको निमित्त बनाकर इस मार्ग पर चलनेवाले प्रत्येक जिज्ञासु को उद्दालक ने अध्यात्मतत्त्व का चिरन्तन उपदेश दिया। छान्दोग्य के प्रकृत प्रसंग का यही अभिप्राय

है, यहाँ आत्मा को ब्रह्मरूप बताने की कोई भावना नहीं है।

१०. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

—कठ० २।१।११

किञ्चिद् अन्तर (**'आप्तव्यं'** के स्थान पर **'अनुद्रष्टव्यं'** तथा **'गच्छति'** के स्थान पर **'आप्नोति'**) के साथ यह सन्दर्भ बृहद्० (४।४।१९) में भी आता है। यहाँ ब्रह्म के नानात्व का निषेध करते हुए कहा है कि शुद्ध अन्तःकरण से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसाकि **'एकमेवाद्वितीयम्'** की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्म केवल एक है। **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'**—एक होते हुए भी उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। जो उसे अनेक समझता है, वह मोक्षलाभ न करके जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है। यहाँ अध्यात्म-प्रसंग में **'आप्तव्य'** या **'अनुद्रष्टव्य'** का कर्म पर-ब्रह्म परमात्मा है। इसलिए उसी के नानात्व=अनेकत्व का निषेध है, संसार में साक्षात् उपलब्ध नानात्व का नहीं। रामानुज ने ठीक कहा है कि यदि संसार में नानात्व की सत्ता न होती तो एकत्व की कल्पना सम्भव न होती। यदि नानात्व मिथ्या हो तो शास्त्रों में उपलब्ध तत्सम्बन्धी वचन निरर्थक होंगे। यदि नानात्व नित्य है तो उसके किसी भी रूप में एक से प्रादुर्भूत होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

११. अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।—छा० ७।२५।२

इससे पूर्व चौबीसवें खण्ड में उपनिषत्कार ने बताया—"जो भूमा है वह अमृत है; जो अल्प है वह मर्त्य है—मरणधर्मा है। 'भूमा किसमें प्रतिष्ठित है' यह पूछे जाने पर ऋषि ने उत्तर दिया कि भूमा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अल्प जीव और भूमा अमृत का भेद बताकर उपनिषत्कार ने कहा कि भगवान् के इस 'भूमा' रूप का दर्शन करने के बाद भक्त अनुभव करने लगता है कि उस आनन्द-स्वरूप भूमा को ही जानना चाहिए—**'सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'**। जब उसे खोजने चलता है तो देखता है कि जिसे मैं खोजना चाहता हूँ वही नीचे है, वही ऊपर है, वही आगे है, वही पीछे है, वही दायें है, वही बायें है—**'आत्मैवेदं सर्वमिति'**—जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू

है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि यह परमात्मा की सर्वव्यापकता का व्याख्यान है, उसके जगद्रूप होने का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है।

१२. अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव॥
—कठ० २।३।६

परमात्मा अन्तर्यामिरूप से व्याप्त होकर प्रत्येक वस्तु के बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान है। जितना वह जगत् के भीतर है, उससे कहीं अधिक बाहर है।[1] प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर ब्रह्म की व्यापकता इस बात का प्रमाण है कि वह उन पदार्थों का उपादान नहीं है। इस प्रसंग में अग्नि का दृष्टान्त देते हुए कठोपनिषद् में कहा है—"जैसे एक अग्नि संसार में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक वस्तु के पूरे आकार के अनुसार उसमें व्याप्त होकर उसके अनुरूप अपना रूप बना लेता है, वैसे ही एक परमात्मा समस्त विश्व में अन्तर्यामिरूप से व्याप्त रहता हुआ प्रत्येक वस्तु के बाहर और भीतर विद्यमान है।" इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि दृश्यमान जगत् के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर उसके जीवन तथा अस्तित्व का हेतु सर्वव्यापी ब्रह्म है। यदि परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर ही होता तो वस्तुएँ परमात्मा से बड़ी होतीं, क्योंकि छोटी वस्तु अपने से बड़ी वस्तु के भीतर रह सकती है। इसी प्रकार यदि परमात्मा प्रत्येक वस्तु के बाहर ही होता तो उसकी सर्वव्यापकता में बाधा आती। क्यारी के भीतर रहता हुआ जल क्यारी के आकार को धारण कर लेता है। किन्तु जब जल क्यारी के भीतर-बाहर सर्वत्र फैल जाता है तब उसका कोई आकार नहीं रहता। उपादानकारण क्योंकि पदार्थ के भीतर ही रहता है, इसलिए यदि ब्रह्म को उपादान माना जाएगा तो वह उस पदार्थ के आकार को धारण कर साकार तथा संख्या में अनन्त हो जाएगा किन्तु ब्रह्म एक तथा सर्वथा निराकार है, अतः उसका बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त होना स्वतःसिद्ध है, और बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त होने से वह जगत् का निमित्तकारण ही हो सकता है, उपादानकारण नहीं। उपादानरूप केवल प्रकृति है जो ब्रह्म के नियन्त्रण में जगद्रूप में परिणत होती है। यही सर्वथा तर्कसम्मत है।

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।—यजु० ३१।३

१३. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥—ईश० १५

हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन्! तू उस ढकने को हटा दे जिससे मैं सत्य के दर्शन कर सकूँ। हिरण्मय पात्र का यहाँ लाक्षणिक प्रयोग है और ऐसे सभी पदार्थों का वाचक है जिनके रमणीय रूप को देखकर मनुष्य सहज ही आकर्षित हो जाता है। 'सत्य' यहाँ ब्रह्म का वाचक है—**'सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म'** (बृहद्० ५।४।१)। इस सन्दर्भ में प्रार्थयिता जीवात्मा है जो सत्य-ब्रह्म का दर्शन करना चाहता है परन्तु प्राकृत पदार्थों का आकर्षण उसमें बाधक है। परमेश्वर के अनुग्रह के बिना जीवात्मा इस बाधा को दूर करने में असमर्थ है। उसकी कृपा होने पर प्रकृति का आवरण हटते ही जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

१४. पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि [1][2] ॥—ईश० १६

भौतिकता का स्वर्णाभ ढकना उठ जाने पर प्रभु के कल्याणतम रूप का दर्शन होता है। तदर्थ ज्ञान का विस्तार और केन्द्रीकरण दोनों आवश्यक हैं। समूह और व्यूह, संश्लेषण और विश्लेषण की क्रियाएँ हैं। किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना हो—उसका सम्यक् दर्शन करना हो तो दोनों की आवश्यकता पड़ती है। परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का दर्शन करने में हिरण्मय पात्र (प्रकृति) बाधक था। प्रभु-कृपा से उसके हटने पर उसका प्रत्यक्ष हो गया। तब पता चला कि **(असौ असौ)** एक-एक=प्रत्येक प्राणी में वह **(अहम्)** व्याप्त है। कण-कण में प्रभु का सौन्दर्य छलक रहा है—'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल'। ब्रह्म अनन्त तेजोमय है। हिरण्मय पात्र के उठने पर जीवात्मा की आँखें चुँधिया जाती हैं। उसकी वही दशा होती है जो

---

१. **अह् व्याप्तौ** (पाणिनि)। २. **'अस्मि'** पद यहाँ क्रियावाची न होकर निपात है। **'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति'** (निरुक्त १।४) धातुगत अर्थों की परवाह न करते हुए ऊँच-नीच भावों को प्रकट करना निपातन कहाता है। **निपतन्तीति निपाताः**—इस निर्वचन से निपात शब्द सिद्ध होता है। निपात उपमा अर्थ में, अर्थोपसंग्रह अर्थ में और कोई पादपूरक होते हैं।—**'अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पादपूरणाः।'**

देर तक अँधेरे में रहने के अभ्यस्त व्यक्ति की दोपहर के सूर्य की ओर देखने पर होती है। जिसके तेज से सृष्टि के असंख्य सूर्य चमकते हैं[1] उसके अपरिमित तेज की ओर कोई कैसे देख सकता है ? उस तेजोमय स्वरूप को देखकर वह घबरा-सा जाता है और सहसा कह उठता है—'मैं नहीं जान सका कि यह कौन है।'[2] और प्रभु से अनुरोध करता है कि हे तेजोमय प्रभो ! अपनी इन किरणों को समेटो जिससे मैं आपके मधुर रूप के दर्शन कर सकूँ और अनुभव कर सकूँ कि आप मुझमें हैं और मैं आपमें हूँ।

जीवो ब्रह्मैव ?

१. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

—कठ० १।२।१२

कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली में नचिकेता ने यम से तीन वर माँगे थे। तीसरे वर में नचिकेता ने आत्मा के विषय में जिज्ञासा प्रकट की थी—"मनुष्य के मर जाने पर जो जिज्ञासा बनी रहती है, कोई कहते हैं कि मरने पर भी मनुष्य बना रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता—आपसे शिक्षा पाकर मैं इसका समाधान चाहता हूँ। तीसरे वर के रूप में मैं यही चाहता हूँ।[3]

आत्मा पद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में दोनों का वर्णन अपेक्षित है। प्रस्तुत कण्डिका में परमात्मा का वर्णन है—**'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्'** इत्यादि। उस कठिनता से जानने योग्य, इन्द्रियों से अग्राह्य, समस्त विश्व में अन्तर्यामिरूप से विद्यमान जीवात्मा के निवासस्थान मस्तिष्कगत हृदयदेश (गुहा) में बैठे हुए, अतिगम्भीर, अत्यन्त दुर्ज्ञेय, नित्य सनातन देव—परमात्मा को अध्यात्मयोग द्वारा जानकर धीरपुरुष सुख-दुःख से छूट जाता है। इस प्रकार ब्रह्म का निर्देश कर यम कहता है—ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म विश्व के व्यवस्थापक ब्रह्म को जानकर मानव आनन्दित

---

१. **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।—मुण्डक २।२।१०**

२. **तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।—केन ३।२**

३. **येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।**
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥—कठ० १।१।२०

हो जाता है। आत्मा में समाधिलाभ हो जाने पर उसे जाना जाता है। आत्मा में ब्रह्म की स्थिति को शास्त्रों में स्पष्ट रूप से बताया है— **'अयमन्तरात्मन् पुरुषः'** (शत० १०।६।३।२), **'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति'** (कठ० २।१।१२), **'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः'** (कठ० २।२।१२); **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता० १८।६१), **'एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ'** (श्वेत० १।१५), **'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः'** (शत० १४।६।७।३०)—जो आत्मा में रहता हुआ भी आत्मा से भिन्न है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में जिज्ञासु से जिज्ञास्य का, द्रष्टा से द्रष्टव्य का, व्यापक से व्याप्य का और लब्धा से लब्धव्य का, अर्थात् परमात्मा से जीवात्मा का भेद प्रतिपादित है।

२. जीवात्मा के विषय में संशय उत्पन्न होता है कि यह कोई उत्पत्ति-विनाशधर्मा तत्त्व है अथवा नित्य तत्त्व ? यदि यह उत्पत्ति-विनाशधर्मा है, तो यही माना जाएगा कि देह के साथ वह जीता-मरता है। यदि ऐसी स्थिति है, तो ब्रह्मज्ञान के लिए किसी प्रकार की साधना करना व्यर्थ है, क्योंकि जिस जीवात्मा ने यह साधना करनी है, उसे देह के साथ नष्ट हो जाना है। जीवात्मा के विषय में ऐसी आशंका नचिकेता अथवा अन्य किसी जिज्ञासु को न हो, इस भावना से उपनिषद् के अगले दो सन्दर्भों में कहा—"वह न जन्म लेता है, न मरता है, वह चेतनतत्त्व है, न उसका कोई कारण है, न वह किसी का कार्य है। वह अज है, नित्य है, अविकारी है। वह नित्य आत्मा शरीर के नाश होने पर नष्ट नहीं होता। जो समझता है कि मैंने आत्मा को मार दिया तथा जो समझता है कि मैं मर जाता हूँ—वे दोनों आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते। न वह मरता है, न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीततो नायं हन्ति न हन्यते॥

—कठ० १।२।१८-१९

छान्दोग्य (६।११।३) में कहा—**'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते'** जीव से रहित हुआ यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।५।१४) में बताया—**'अविनाशी**

वा अरे ऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा।' याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा— अरे यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता। मोक्षा-वस्था में भी जीव को ब्रह्म में लीन माना जाए तो वह जीवात्मा का स्वरूप से मरना ही होगा। लय का अर्थ है स्वरूप को छोड़कर रूपान्तर की प्राप्ति। जीवात्मा के विषय में ऐसा मानना शास्त्रविरुद्ध है। फलतः जीवात्मा-परमात्मा की सह-अवस्थिति निश्चित है। ये दोनों तत्त्व नित्य हैं—दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

३. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

—कठ० १।२।२३

विहित कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी परब्रह्म परमात्मा के अनुग्रह की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बड़े-बड़े भाषण करने, तर्क-वितर्क करने, बहुत-कुछ पढ़ने-सुनने आदि से ही परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती। पर जिस ब्रह्मोपासक को परब्रह्म परमात्मा अपने प्रसाद से सम्पन्न कर देता है, उसे ब्रह्म-साक्षात्कार में कोई सन्देह नहीं रहता। अनुग्रह करनेवाला और अनुग्रह की अपेक्षा करनेवाला दोनों एक नहीं हो सकते। पानेवाला स्वयं अपना प्राप्तव्य नहीं हो सकता। दोनों में भेद के बिना भक्ति या उपासना की कल्पना नहीं की जा सकती।

४. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

—कठ० १।२।२४

जो व्यक्ति दुराचार से हटा नहीं, जो अशान्त है, जो तर्क-वितर्क में उलझा हुआ है, जो चंचल चित्तवाला है, वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। उसे तो प्रज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह निर्दोष तथा नित्य पवित्र ब्रह्म का वर्णन न होकर स्पष्ट संसारी जीव का वर्णन है, जो परमेश्वर को प्राप्त करना तो चाहता है, पर दोषों में लिप्त होने से उसे पाने में सर्वथा असमर्थ है।

५. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

—कठ० १।३।३-४

यहाँ शरीर, बुद्धि, मन आदि विशेषणों से युक्त सांसारिक पदार्थों के भोक्ता के रूप में निश्चित रूप से जीवात्मा का वर्णन है। तत्पश्चात् ज्ञेय और प्राप्तव्य ब्रह्म का प्रतिपादन है—

६. विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

—कठ० १।३।९

शुद्ध ज्ञानयुक्त बुद्धि जिस जिज्ञासु व्यक्ति का सारथि है और शुद्ध मन रास है, वह अपने मार्ग के पार पहुँच जाता है। वह गन्तव्य विष्णु (परमात्मा) का परम पद है (स्वरूप) है। यहाँ गन्ता जीवात्मा के अतिरिक्त गन्तव्य—प्राप्तव्य (जीवात्मा के अन्तिम लक्ष्य)-रूप में परमात्मा को बताया है। जीवात्मा देहादिसम्बन्ध से जन्म-मरण के बन्धन में आता है, जैसा कि रथ-रथिक रूपक से स्पष्ट है। देह धारण कर सांसारिक भोगों के साथ ब्रह्मजिज्ञासा होने पर समाधि आदि द्वारा उसे जानकर मोक्ष को प्राप्त होना—यह सब कथन जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व का साधक है।

७. ओं क्रतो स्मर।—ईश० १७

हे कर्मशील जीव (क्रतो) तू परमात्मा (ओम्) का स्मरण कर। मृत्यु के समय जिस परब्रह्म को स्मरण करने का यहाँ निर्देश किया है, निश्चय ही वह स्मरण करनेवाले जीवात्मा से भिन्न सत्ता है।

८. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

—ईश० १८

प्रार्थयिता के कर्मों को जाननेवाला परमात्मा उन कर्मों के कर्त्ता जीवात्मा से, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करनेवाला परमात्मा ऐश्वर्य के अभिलाषी जीवात्मा से, कुटिलता तथा पापकर्मों से बचानेवाला परमात्मा उनमें प्रवृत्त जीवात्मा से तथा नमनीय परमात्मा नमन करनेवाले जीवात्मा से सर्वथा भिन्न है।

९. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥—ईश० ६

१०. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥—ईश० ७

'**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**'—परमात्मा को पदार्थ-

मात्र के भीतर-बाहर व्याप्त जाननेवाले मनुष्य को सबके भीतर परमात्मा और परमात्मा के भीतर सब दीख पड़ता है। प्राणिमात्र में प्रभु का दर्शन करनेवाले के लिए कोई पराया नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति सभी के प्रति प्रेम व आदर का भाव रखता है। घृणा पर से होती है। प्रभु के सर्वव्यापक होने से जब मनुष्य प्राणिमात्र में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर उसका प्रत्यक्ष कर लेता है तब उसे सर्वत्र आत्मीयता का दर्शन होता है। ऐसा व्यक्ति किसी से कैसे घृणा कर सकता है?

उपनिषद् के **'पश्यति'** न कहकर **'अनुपश्यति'** कहने में भी रहस्य है। **'पश्यति'** का अर्थ है—'देखता है'। देखना नेत्रों का काम है, किन्तु उसके लिए मन का सहयोग अपेक्षित है। परन्तु मन के साथ मिलकर भी आँख जो कुछ देखती है, उसमें विवेक के लिए स्थान नहीं होता। आँख से देखने पर माँ, बहन, बेटी सब एक-सी दीख पड़ती हैं। परन्तु जब बुद्धि के सहयोग से मनुष्य का आत्मा देखता है तब उन सबमें अन्तर स्पष्ट हो जाता है और हम एक को माँ के रूप में, दूसरी को बहन के रूप में और तीसरी को बेटी के रूप में देखते हैं। यही **'अनुपश्यति'** है। कभी-कभी किसी महात्मा के सत्संग से हमारी सद्वृत्ति जाग उठती है, किन्तु इतने मात्र से हम स्थितधी नहीं हो जाते। श्मशानज्ञान की तरह उसमें स्थायित्व नहीं होता। **'अनुपश्यति'** में सातत्य का संकेत है अतः प्रकरणान्तर्गत **'अनुपश्यति'** की भावना यह है कि प्राणिमात्र में ईश्वर को और ईश्वर में प्राणिमात्र को देखने का भाव क्षणिक आवेग का परिणाम न होकर सुविचारित हो और उसमें सातत्य हो।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, **'आत्मा'** शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। प्रकरणानुसार जहाँ पहले मन्त्र में वह परमात्मा का वाचक है, वहाँ दूसरे मन्त्र में वह जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। **'आत्मैवाभूद्विजानतः'** तथा **'एकत्वमनुपश्यतः'** से आपाततः समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा (परमात्मा) के होने की प्रतीति होती है किन्तु **'एव'** तथा **'अनुपश्यतः'** पदों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ **'आत्मैव'** का अर्थ 'अपने जैसा' और **'एकत्वमनुपश्यतः'** का अर्थ 'एक-जैसा' समझना अभिप्रेत है। यह तादात्म्य-तथा एकत्व दृश्य में नहीं, द्रष्टा में रहता है। द्रष्टा की भावना वस्तु तत्त्व को नहीं बदल सकती।

प्रत्येक व्यक्ति में जन्मादि की व्यवस्था अर्थात् भेद देखा जाता है। एक ही काल व देश में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन है। एक देह में रहनेवाले की स्थिति दूसरे देह में रहनेवाले से नहीं मिलती। यदि सर्वत्र शरीरों में एक ही आत्मा हो तो इस प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि समस्त देहों में एक आत्मा मानने पर समस्त विविधताओं का अभाव होना चाहिए। ऐसा सम्भव न होने से समस्त देहों में एक आत्मा मानना असंगत है। अतः **'आत्मैवाभूद्विजानतः'** का अभिप्राय प्राणिमात्र को अपने जैसा समझकर उनके सुख-दुःख का चिन्तन करना है। समस्त जीवों की ब्रह्म से भिन्न अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। इसलिए सब जीव कर्म करने और तदनुसार फल भोगने में एक-दूसरे से पृथक् हैं।

जगत् को देखने के नेत्र और हैं, ईश्वर को देखने के और। जब बाहर की ओर देखनेवाले नेत्र बन्द हो जाते हैं तो भीतर की ओर झाँकनेवाले नेत्र खुल जाते हैं। तब सारा संसार आँखों से ओझल होकर एक सच्चिदानन्द ही सामने रह जाता है। इस प्रकार एकत्व का दर्शन कर लेने पर जब उसके लिए सब-कुछ एक-समान हो जाता है तब उनमें से किसी एक के प्रति लगाव कैसे हो सकता है? और जब एक से लगाव नहीं तो दूसरे से द्वेष कैसे सम्भव है? इस प्रकार आनन्दस्वरूप भगवान् के सामने होने और प्राणिमात्र को अपने जैसा समझकर उनके प्रति व्यवहार करनेवाला मोह और शोक से ऊपर उठ जाता है। किन्तु सन्तान के प्रति **'आत्मैवाभूद्विजानतः'** व्यवहार करनेवाला पिता सन्तान से, सन्तान पिता से तथा सन्तानों में भी सब एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।

अद्वैतवादियों के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ कुछ इस प्रकार होना चाहिए—"जिस अवस्था में सारे भूत—उत्पन्न पदार्थ ब्रह्मरूप हो जाते हैं अर्थात् जिस व्यक्ति को पदार्थमात्र में ब्रह्मबुद्धि का निश्चय हो जाता है, उसे कोई मोह और शोक नहीं रहता।" **'भूत'** शब्द अनेकार्थक होते हुए भी यहाँ केवल प्राणिवाचक है। यदि दुर्जनतोष-न्याय से **'भूत'** का अर्थ उत्पन्न पदार्थमात्र ही मान लिया जाए तो जड़, परिणामी एवं अनात्म पदार्थों में चैतन्य, अपरिणामी, आत्मख्याति (योगदर्शन २।५) के अनुसार अविद्या होगी। इसके विपरीत न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों से युक्त होने के कारण

उनमें अपने समान जीवात्मबुद्धि रखना सर्वथा तर्कसंगत है। फिर, ईश्वर-जीव-प्रकृति में अभेदपरक अर्थ अनेकत्र उपलब्ध श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण भी अमान्य है।

परमात्मा सबमें व्याप्त है अथवा सब परमात्मा में व्याप्त हैं अथवा सब परमात्मा के आश्रित हैं—इससे तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि परमात्मा है तथा उससे भिन्न अन्य कुछ है। फिर इस यथार्थता को साक्षात् करनेवाला आत्मज्ञानी मोक्ष पाता है, यह कथन भी परमात्मा से भिन्न किसी ऐसे तत्त्व का बोधक है, जो मोक्ष का अभिलाषी है और अवसर आने पर मोक्षलाभ करता है।

११. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

—मुण्डक० ३।२।९

जो ब्रह्म को जान लेता है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह सचमुच ब्रह्म हो जाता है। इस वाक्य में प्रयुक्त 'भवति' क्रियापद से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था। तभी तो 'होना' क्रिया का प्रयोग किया गया।

एक 'है', दूसरा 'होता है'। 'है' से नित्य का बोध होता है, 'होता है' से अनित्य का। नित्य और अनित्य में सादृश्य कैसे सम्भव है? उत्पन्न होनेवाला भाव अनित्य एवं पराधीन होता है। निमित्त से बननेवाला सादि, सादि होने से अनिवार्यतः सान्त तथा सादि-सान्त होने से अनित्य होगा। परन्तु असली ब्रह्म तो अनादि, नित्य तथा स्वभाव से आनन्दस्वरूप रहेगा और इस अन्तर के कारण दोनों में ऐकात्म्य कभी नहीं होगा। वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा के स्तर तक उठने की योग्यता नहीं रखता। जो बना है, वह स्वयम्भू की बराबरी कैसे कर सकता है? फिर, ज्ञाता और ज्ञेय भी एक नहीं हो सकते। अतः ब्रह्म और ब्रह्मवित् का अन्तर अनादि-अनन्त है। इसी प्रकार **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** का अर्थ **'ब्रह्मवित्'** 'परम् (उत्कृष्ट अवस्था)= मोक्ष को प्राप्त करता है' होगा, 'ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है' नहीं। आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्मज्ञान हो जाने पर मोक्षावस्था प्राप्त होना ही जीवात्मा का ब्रह्म को प्राप्त होना है।

१२. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।

—केन० २।१

१३. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।—केन० २।३

१४. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यस्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।
—केन० २।५

यदि तू यह मानता है कि तू ब्रह्म के स्वरूप को जानता है तो तू बहुत थोड़ा जानता है। जो यह मानता है कि वह उसे नहीं जान सका, उसने उसे जान लिया है। जो यह मानता है कि वह उसे जान गया है, उसने उसे नहीं जाना। जाननेवालों के लिए वह अविज्ञात है और न जाननेवालों के लिए वह विज्ञात है। अगर तूने उसे यहाँ (इस जन्म में) जान लिया तब तो ठीक है, अगर नहीं जाना तो विनाश ही विनाश है। धीर लोग संसार के एक-एक भूत, एक-एक पदार्थ पर चिन्तन करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस रहस्य को जानने-वाले ही मृत्यु के पश्चात् अमृतत्व को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकरण का एक-एक शब्द जीव-ब्रह्म के भेद की घोषणा कर रहा है।

१५. यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्य-मृतः ।—बृ० ३।७।२२

वर्त्तमान में उपलब्ध बृहदारण्यकोपनिषद् काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड का भाग है। यहाँ विज्ञान-पद का प्रयोग शारीर आत्मा (जीवात्मा) के लिए हुआ है। स्पष्ट ही यहाँ जीवात्मा को अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) से भिन्न कहा है तथा इस आत्मा (ब्रह्म) को जीवात्मा का अन्तर्यामी बताया है, क्योंकि ब्रह्म उसके अन्दर रह-कर उसका नियन्त्रण करता है। माध्यन्दिन-शाखीय शतपथ ब्राह्मण के इस पाठ में **'विज्ञान'** के स्थान पर **'आत्मा'** पद है, और कोई भेद नहीं है। वहाँ यह (आत्मा) पद शारीर आत्मा (जीवात्मा) के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह सन्दर्भ जीवात्मा में ब्रह्म की स्थिति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए बताता है कि वह जीवात्मा से भिन्न है **(आत्मनोऽन्तरः)**। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति होने से उसे नहीं जान पाता **(यमात्मा न वेद)**। पर जीवात्मा जिसका शरीर है, अर्थात् जो जीवात्मा में रहता है **(यस्यात्मा शरीरम्)**, तथा जो जीवात्मा से

भिन्न रहते हुए भी उसके द्वारा किये पुण्यापुण्य कर्मों का फलप्रदाता होने से उसका नियन्ता है (**य आत्मानमन्तरो यमयति**)। याज्ञवल्क्य उद्दालक आरुणि को लक्ष्य कर कहता है, यह अन्तर्यामी आत्मा तेरा अन्तर्यामी है (**एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**)। उद्दालक आरुणि समस्त जीवात्माओं का प्रतीक है। पृथिव्यादि समस्त लोक-लोकान्तर जड़ जगत् और जीवात्मरूप चेतन जगत् का अन्तर्यामी है वह अमृत-आत्मा। अन्तर्यामी पद का यही अर्थ है कि उनके अन्दर विद्यमान रहता हुआ उन सबका नियमन करता है। ऐसा अमृत आत्मा ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य सम्भव नहीं। जीवात्मा जो स्वयं उससे नियन्त्रित होता है, ब्रह्म से भिन्न है।

१६. तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।—बृहद्० ४।३।२१

उपनिषदान्तर्गत यह सन्दर्भ सुषुप्ति अवस्था के वर्णन का है। इसमें **'पुरुष'** पद जीवात्मा तथा **'प्राज्ञ'** पद परब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। माण्डूक्योपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था को प्राज्ञस्वरूप बताया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कहा है—जैसे अनुकूल भार्या से सम्बद्ध कोई पुरुष उस अवसर पर अन्दर-बाहर का कोई अन्य ज्ञान नहीं रखता, ऐसे ही यह पुरुष (जीवात्मा) सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) से सम्बद्ध हुआ (संपरिष्वक्तः) किसी अन्य आन्तर एवं बाह्य विषय को नहीं जानता। यहाँ शारीर आत्मा (जीवात्मा) का प्राज्ञ परब्रह्म से स्पष्टरूप से भेदकथन है। अन्यथा इनके सम्बन्ध (**परिष्वजन**) का निर्देश नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सम्बन्ध के लिए कम-से-कम दो का होना अनिवार्य है। बाह्य तथा अन्तर का न जानना भी उस अवस्था में जीवात्मा की पृथक् स्थिति का निर्देश करता है। ब्रह्म तो सर्वज्ञ है। उसका नित्य प्रज्ञा से कभी भी वियोग सम्भव नहीं। सुषुप्ति-अवस्था का यह वर्णन जीवात्मा और परमात्मा के भेद को स्पष्ट करता है, अभेद को नहीं।

१७. एष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते।

—बृ० २।१।१८

यह पुरुष इन इन्द्रियों (प्राणान्) को अपने साथ लेकर अर्थात् करणों के सहयोग से अपने शरीर में स्वेच्छापूर्वक विचरण करता है।

इसी प्रकार अन्यत्र (बृ० ४।३।१२) कहा—"**सह ईयतेऽमृतो यत्र-कामम्**" यह अमृत (जीवात्म-पुरुष) जहाँ-जहाँ कामना होती है, मन-बुद्धि आदि करणों द्वारा वहाँ-वहाँ पहुँचता अर्थात् उन विषयों को ग्रहण करता है। इन प्रसंगों में '**परिवृत्ति**' तथा '**ईयति**' आदि क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में जिसका कथन किया है, वह जीवात्म-पुरुष ही हो सकता है, ब्रह्म नहीं।

१८. पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।
—श्वेत० १।६

जीवात्मा अपने-आपको और प्रेरिता—परमात्मा को पृथक् समझ-कर उसका साक्षात्कार कर उसके सम्पर्क में आता है, तब अमृत—मोक्ष को पा जाता है। श्वेत० १।१२ में '**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्**' इस सन्दर्भ के अन्तर्गत 'भोक्ता' तथा 'प्रेरिता' का उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'प्रेरिता' से भिन्न 'आत्मा' पद भोक्ता जीवात्मा का ही वाचक है। यहाँ मोक्षाभिलाषी के लिए अपने-आपको अपने प्राप्तव्य ब्रह्म से पृथक् मानना आवश्यक बताया है।

प्रकृति-उपादान

१. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदे-वेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।—छा० ६।२।१-२

प्रसंग एवं वर्णन की शैली से स्पष्ट है कि यहाँ जगत् के उपादान-कारण के विषय में निर्देश है। उपादानकारण को सत् माना जाए अथवा असत्? यदि 'असत्' पद प्रतिषेधमात्र अर्थात् अभाव का द्योतक है, तो असत् से सत् का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं। अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं होता, न भाव कभी अभाव हो सकता है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६) ऋग्वेद (१०।७२।२) के उक्त प्रसंग में '**असत्**' पद अव्यक्त प्रकृति का निर्देश करता है। छान्दोग्य के उपर्युक्त सन्दर्भ में लिखा है कि कोई ऐसा कहते हैं (**तद्धैक आहुः**) कि पहले असत् ही था (**असदेवेदमग्र आसीत्**)। उपनिषद् ने इसका प्रत्याख्यान करते हुए तत्काल कह दिया—'**कुतस्तु**

खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत'—यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् हो जाए ? अर्थात् असत् से सत् नहीं हो सकता। यहाँ 'असत्' पद अभाव का द्योतक है। इससे स्पष्ट किया कि अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं होता। जो जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सत् है। जब कार्यरूप में न था तब भी सत् था, अर्थात् जगत् का उपादानतत्त्व सत् है। उपादानता के रूप में जगत् का कारणतत्त्व एकमात्र अद्वितीय है। सर्गकाल में मूल उपादानतत्त्व परिणत होकर जो यह विविध कार्यजगत् के रूप में दीख रहा है, प्रलयकाल में उस अवस्था में नहीं रहता। सर्ग से पूर्व की अवस्था को इसी अर्थ में 'असत्' कहा जा सकता है। वस्तुतः सद्रूप कार्यजगत् सत् कारण से ही परिणत होता है। चेतन तत्त्व का पहले तो परिणाम ही सम्भव नहीं, फिर उसका जड़रूप परिणाम तो सर्वथा युक्ति-प्रमाण एवं शास्त्र के विरुद्ध है। इस व्यवस्था के अनुसार जड़ जगत् का मूल उपादान जड़ ही होना चाहिए।

बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम प्रसंग (१।२।१) में मृत्यु पद मरण-शील अर्थात् परिणामिनी प्रकृति का निर्देश करता है। प्रलयावस्था में यह जगत् कारणरूप प्रकृति में अन्तर्हित रहता है। प्रकृति भी उस समय अपने नियामक परमेश्वर के पेट में समाई रहती है—**'हिरण्य-गर्भः समवर्त्तताग्रे'**—प्रकृति को गर्भ में धारण किये हुए परमेश्वर पहले से वर्त्तमान रहता है। इसी को ऋग्वेद (१०।१२९।२) में इन शब्दों में कहा है—**'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** प्रलयावस्था में स्वधा—जगत् के उपादानकारण प्रकृति के साथ वह एकमात्र ब्रह्म सदा अवस्थित रहता है। बृहदारण्यक के अगले (१।३।२८) प्रसंग में **'असत्'** पद परिणामिनी प्रकृति का बोधक है। उसी के लिए इस प्रसंग में आगे **'तमस्'** पद का प्रयोग हुआ है जो प्रकृति का पर्याय है। जीवात्मा परमात्मा से प्रार्थना करता है—**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**—अपने अनुग्रह से मुझे परिणामिनी प्रकृति के सम्पर्क से दूर कर अपरिणामी सद्रूप को प्राप्त करा। इस विवेचन से स्पष्ट है कि **'असत्'** पद का अभाव-अर्थ में प्रयोग करके सद्रूप जगत् के प्रादुर्भाव का कथन सर्वथा अप्रामाणिक है।

२. **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तप-स्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत।**—तैत्ति० २।६

स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमांल्लोकानसृजत ।

—ऐत० १।१-२

उसने संकल्प किया कि मैं बहुत होऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। उसने तप किया[1] और तप के द्वारा जगत् का निर्माण किया।

शास्त्रों में सर्गरचना से पूर्व अभिध्याय—संकल्प का कामना या ईक्षण के रूप में उल्लेख मिलता है। इस अभिध्या या इच्छा के लिए कर्त्ता और कर्म दोनों की अपेक्षा है। ये दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते। एक ही तत्त्व कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। यह अभिध्यान जैसे अभिध्याता की अपेक्षा करता है, वैसे ही अभिध्यातव्य की भी। तात्पर्य यह कि जैसे कोई संकल्प का करनेवाला (कर्त्ता) है, वैसे ही संकल्प का कोई विषय (कर्म) भी होना चाहिए। संकल्प का कर्त्ता निश्चय ही ब्रह्म है। तब सकल्प का कर्म अथवा विषय क्या है? ब्रह्म स्वयं संकल्प का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में उसे स्वयं ही जगद्रूप में परिणत मानना होगा। इसलिए जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म के संकल्प का विषय उससे भिन्न प्रकृति है जो ईक्षण द्वारा बहुरूप हो जाती है। स्वामी हरिप्रसाद ने **'वेदान्तसूत्र वैदिक वृत्ति'** में इस विषय का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है कि अभिध्याता होने से ब्रह्म निमित्तकारण तथा अभिध्यातव्य होने से प्रकृति उपादान-कारण है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि संकल्प का अभिध्याता संकल्प के अभिध्यातव्य से अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म अपनी कृति भौतिक जगत् और उसके उपादान प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

शंकराचार्य कहते हैं कि अभिध्या के उपदेश से ब्रह्म का कर्त्ता और उपादान होना सूचित होता है[3], जबकि पहले वह स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर चुके हैं कि "ब्रह्म तो परमार्थ में कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सब विक्रियाओं से शून्य, नित्यतृप्त, अवयव-रहित एवं ज्योति है।"[4] इन लक्षणों से युक्त ब्रह्म भला नित्य परिवर्तन-शील भौतिक जगत् का उपादानकारण कैसे हो सकता है? यदि होगा

---

१. ईश्वर का तपस् करना प्रकृति में प्रेरणा देना है।

२. **तत्र ब्रह्माभिध्यातृत्वान्निमित्तकारणं प्रकृतिश्चाभिध्यातव्यादुपादानकारणम्।**

३. **अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति।**—शा० भा० १।४।२४

४. **इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावम्।**—शा० भा० १।१।४

तो निश्चय ही यह जगत् भी इन्हीं लक्षणों से युक्त होगा, क्योंकि शंकर के मत में कारण और उसके कार्य में अनन्यभाव है। शंकर ने उक्त गुणों को ब्रह्म का स्वभाव बताया है और स्वभाव के विषय में उनके दादागुरु गौडपाद का कथन है कि "किसी भी अवस्था में स्वभाव अन्यथा नहीं होता।[1] इसलिए अविकारी ब्रह्म विलक्षण जगत् का कर्त्ता या निमित्तकारण ही हो सकता है, कर्म या उपादान नहीं।

यदि प्रकृति के सहयोग के बिना ही ब्रह्म जगद्रूप हो सकता तो उपनिषत्कार उक्त सन्दर्भों में **'इदं सर्वमसृजत्'** के स्थान पर **'इदं सर्वमभवत्'** कहते, अर्थात् **'असृजत्'** के स्थान पर **'अभवत्'** क्रियापद का प्रयोग करते।

३. सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।—छा० ६।३।२

उस ब्रह्मरूप देवता ने ईक्षण किया कि मैं इन तीन देवताओं को (तेज-अप्-अन्न से उपलक्षित सत्त्व-रजस्-तमस्) को इस जीवरूप आत्मा के प्रवेश के द्वारा अनुप्रविष्ट हुआ नाम-रूप से विस्तृत करूँ।

सर्ग से पूर्व यह जगत् अव्याकृतनामरूप अवस्था में रहता है। तदनन्तर नामरूप होता है। इसे अव्याकृत से व्याकृत अवस्था में लानेवाला ब्रह्म है। इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जो विस्तार देनेवाला देवता है, वह अतिरिक्त है और जिन तीन देवताओं का विस्तार किया जाता है, वे प्रथमोक्त देवता से भिन्न हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि जीवात्मतत्त्व इन दोनों से अतिरिक्त है। इसी कारण **'अनेन जीवेनात्मना'** प्रयोग संगत हो सकता है। उस देवता ने ईक्षण किया कि मैं 'इन तीन देवताओं को' नाम-रूप करूँ—इस कथन से स्पष्ट है कि सत्त्व-रजस्-तमस् के रूप में त्रिगुणात्मक प्रकृति ब्रह्म के ईक्षण से पहले वर्तमान थी। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद (१०।१२१।१) के **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** इत्यादि मन्त्र में **'हिरण्यगर्भ'** शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। यह समस्तपद ईश्वर और प्रकृति की संयुक्त संज्ञा है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि **'हिरण्य'** (प्रकृति) को गर्भ में धारण किये परमेश्वर पहले से अर्थात् जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में विद्यमान था—अग्रे समवर्त्तत। इससे विस्पष्ट है कि जगत्सर्ग से पूर्व निमित्तकारण ब्रह्म और उपादानकारण

१. **न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।**
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति॥—गौडपादीय कारिका ३।२१

प्रकृति दोनों की एक-साथ पृथक्-पृथक् सत्ता थी। हाँ, व्यवहार न होने से, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति परमेश्वर के गर्भ में अर्थात् अव्यक्त दशा में थी। उसे गर्भ से निकाल नामरूप के साथ व्यक्त करने का काम परमेश्वर ने किया।[1] इस प्रसंग में ईक्षिता (ब्रह्म) को विस्तार करनेवाला कहा गया है, उसका स्वयं विस्तृत होना नहीं कहा गया।

'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' शब्दों से आपाततः ब्रह्म के जीवरूप में संसार में प्रविष्ट होने का आभास होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि जगत् को उत्पन्न करके वही ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हो गया।[2] उपनिषद् की इन उक्तियों में **'अनु'** (पश्चात्) उपसर्ग पर ध्यान देने से सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। **'प्रवेश'** के पश्चात् ही **'अनुप्रवेश'** होता है। इससे स्पष्ट है कि पहले एक प्रविष्ट हुआ, तदनन्तर दूसरा। 'पहले' और 'पीछे' प्रविष्ट होने से द्वैत स्वतःसिद्ध है। **'शरीरं प्रविष्टो जीवो जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरः'** अपनी व्यवस्था के अनुसार शरीर में जीव को प्रविष्ट करके परमेश्वर जीव में प्रविष्ट होता है। सहार्थ में तृतीया विभक्ति है—**'अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरो नामरूपे करवाणि इत्यन्वयः'**। यद्यपि परमात्मा नित्य सर्वान्तर्यामी होने से सदा सर्वत्र विद्यमान है, पर जीवात्मा द्वारा हृदयदेश में उसका साक्षात्कार कभी-कभी होता है। इस भावना से उसका अनुप्रवेश कहा गया है। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव से प्रवेश करनेवाला तथा जिसमें वह प्रविष्ट होता है—उन दोनों का पृथक्त्व निश्चित है। तैत्तिरीय (२।६) के वाक्य का केवल इतना तात्पर्य है कि जगत् की रचना कर ब्रह्म अन्तर्यामिरूप से उसी में व्याप्त रहता है। प्रवेश का यहाँ ऐसा भाव नहीं है कि पहले वह वहाँ न हो और बाद में प्रविष्ट हो गया। वहाँ जीवात्मा का किसी प्रकार का प्रसंग नहीं है।

---

1. The Old Testament teaches creation out of nothing. Plato and Aristotle assume primitive matter to which God gives name and form. God is an artificer or architect rather than a creator, for primitive substance is thought of as eternal and uncreated. Only form is due to the will of God.

२. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

यदि ब्रह्म ही जीवरूप होकर प्रविष्ट हुआ होता, तो कोई ऊँच, कोई नीच कैसे बन जाता ? यदि ऐसा होना कर्मव्यवस्था के कारण माना जाए तो प्रश्न होता है कि जीव बनने से पूर्व कर्म कहाँ से आ गये ?

वस्तुतः जो सदा से सर्वत्र विद्यमान है, ऐसे परमेश्वर के कहीं प्रवेश का—पहले या पीछे—प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यहाँ यह सब औपचारिक रूप से कथित समझना चाहिए।

४. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।

—बृहद्० ३।७।३

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है।

गौतम गोत्र के उद्दालक आरुणि ने कहा—एक अन्तर्यामी आत्मा है जो इस लोक, परलोक और सब भूतों को उनसे भिन्न रहकर उनको नियन्त्रित करता है। उस अन्तर्यामी आत्मा को जो जान लेता है, वह ब्रह्मवित्, वेदवित्, देववित्, भूतवित्, आत्मवित् एवं सर्ववित् हो जाता है। याज्ञवल्क्य ! यदि तुम उसे जानते हो तो बताओ। (बृहद्० ३।७।१-२) तीसरे अध्याय के सातवें ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने इस विषय का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया कि परमात्मा सृष्टि के समस्त पदार्थों से भिन्न है, तथापि अन्तर्यामिरूप में सबमें व्याप्त रहकर भीतर से उनका नियमन करता है। वही परमात्मा जीवात्मा से भिन्न होते हुए उसमें व्याप्त होकर उसका नियमन करता है।

बृहद्० ३।७।३-१४ द्वारा पृथिवी से तेजस् तक अधिदैवत में अन्तर्यामिरूप से नियन्ता ब्रह्म का वर्णन है। इसके अनन्तर (३।७।१५) अधिभूत में इसी प्रकार का वर्णन है। अन्त में (३।७।१६-२३) अध्यात्म में उक्त प्रकार से ब्रह्म का नियन्ता व अन्तर्यामिरूप में वर्णन हुआ है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि पृथिव्यादि के रूप में दृश्यमान जगत् **'ईशावास्यम्'** तो है, किन्तु ईश नहीं है। जड़ जगत् जिस प्रकृति-उपादान से बना है, उसकी अपनी सत्ता है। वह ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित है, किन्तु ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म के उसमें व्याप्त होने से उसे औपचारिक रूप में उसका शरीर कहा जा सकता है, किन्तु ब्रह्म की तरह उसे चेतन नहीं माना जा सकता।

५. नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।—मुण्डक० १।१।६

इस सन्दर्भ में **'भूतयोनि'** ऐसा पद है जो जगत् के उपादानकारण की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। **'योनि'** पद ऐसे भाव को प्रकट करता है, जहाँ से कोई वस्तु उत्पन्न हो अथवा प्रकाश में आवे, जैसे स्त्रीयोनि। जगत् क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न होता है, इसलिए सन्दर्भ में यह पद प्रकृति की ओर झुकाव के लिए बाध्य करता है। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। गम्भीर पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि **'योनि'** पद कारणमात्र का वाचक है, केवल उपादानकारण का नहीं। स्त्रीयोनि शिशुदेह का उपादानकारण न होकर केवल गर्भाशय से देह के निस्सरण का मार्ग है। शिशुदेह के उपादानकारण तो रज-वीर्य हैं जिनसे देह का आरम्भ होता है। फलतः **'भूतयोनि'** पद से परमेश्वर को जगत् का उपादानकारण सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस सन्दर्भ में **'भूतयोनि'** के विशेषण के रूप में **'अव्यय'** पद का प्रयोग हुआ है। अव्यय का अर्थ है **'अपरिणामी'**। प्रकृति में परिणाम होता है, वह कारणरूप से कार्यरूप में परिणत हो जाती है। **'भूतयोनि'** पद तो यहाँ परमेश्वरवाचक है जो अविकारी है। ऐसी अवस्था में वह जगत् के ऐसे कारण का निर्देशक नहीं हो सकता जो परिणत होता हो। अतएव प्रस्तुत सन्दर्भ से ब्रह्म को जगत् के निमित्तकारण, नियन्ता तथा प्रेरयितारूप में जाना जा सकता है। वह ब्रह्म की उपादानकारणता का बोधक नहीं है।

६. पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सं-प्रसूताः ।—मुण्डक० २।१।५

पुमान् =परमात्मा योषित्=प्रकृति में रेतःसिंचन करता है। इस प्रकार पुरुष से यह समस्त प्रजा प्रसूत हुई है। परमात्मा का रेतः-सिंचन जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना है। वह सबका नियन्ता होने के कारण उसके शरीररूप में वर्णित अनादि प्रकृति से जगत् का निर्माण करता है। प्रकृति स्वतः अनादिसिद्ध है। उसकी ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना करके उससे जगत् की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्रों में किया गया है।

७. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥—श्वेत० ४।१०

एकमात्र तत्त्व विविध रूप में परिणत होता हो—ऐसा दृष्टान्त संसार में उपलब्ध नहीं है। ऐसा माननेवाले आचार्य भी अपनी बात को पूरी तरह नहीं निभा सके। प्रकृति नाम से उन्हें चिढ़ (allergy) थी, क्योंकि यह उनके मत में बाधक बनती थी परन्तु उसके बिना काम भी नहीं चलता था। अन्ततोगत्वा उन्हें माया की कल्पना करनी पड़ी। केवल कथनमात्र में एकमात्र ब्रह्म को मानकर वे आचार्य माया से ब्रह्म का पीछा न छुड़ा सके। माया उसके साथ लगी ही रहती है। प्रकृति के सभी गुण माया में हैं। वह विविधरूपा है, इसलिए जगत् उसका विकार व परिणाम है। जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति अथवा माया के उपादानत्व को कोई नहीं हटा पाया।

यही बात श्वेत० उप० के प्रस्तुत सन्दर्भ में कही गई है—प्रकृति का अपर नाम माया है, उसका नियन्ता होने से ब्रह्म मायी या महेश्वर कहाता है। ब्रह्म के शरीररूप में कल्पित प्रकृति के अवयवों से यह जगत् व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि उस महेश्वर के द्वारा प्रकृति जगद्रूप में परिणत हुई है। इसी बात को अगले सन्दर्भ में पुष्ट करते हुए कहा है—

८. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।

—श्वेत० ४।९

प्रकृति का अधिष्ठाता ब्रह्म इस प्रकृति से समस्त विश्व की रचना करता है। उसका सजातीय दूसरा जीवात्मा है जो इस प्रकृति (माया-जाल) में फँसा रहता है। इस प्रकार उक्त दोनों सन्दर्भों में प्रकृति और ब्रह्म दोनों की सत्ता की स्पष्ट घोषणा करने के साथ-साथ प्रसंग-वश ब्रह्मेतर चेतनतत्त्व जीवात्मा का भी संकेत कर दिया गया है।

९. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

—श्वेत० १।१०

प्रधान अथवा प्रकृति परिणामी तत्त्व है, परमात्मा अपरिणामी अक्षर तत्त्व है। यह एकमात्र देव—परब्रह्म परमात्मा परिणामी प्रधान तथा जीवात्माओं पर शासन करता है। यहाँ एक बार फिर प्रधान (प्रकृति), जीवात्मा तथा दोनों के नियन्ता परमात्मा—इन तीनों का पृथक्-पृथक् कथन है। इसी प्रकार आगे (६।१०) कहा है—

१०. यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।

वह एकमात्र देव मकड़ी के समान प्रकृति के तन्तुओं से अनायास जगत् को बनाता है और स्वयं उसमें छिपकर—अदृश्य रूप में व्याप्त रहता है। यह परमेश्वर की विशेषता है कि जहाँ अन्य निमित्तकारण-रूप पुरुष अपनी कृति की रचना करके उससे अलग हो जाते हैं, वहाँ परमेश्वर अपनी रचना में सदा सर्वत्र विद्यमान रहता है। यहाँ भी एक देव (ब्रह्म) और प्रकृति दोनों का जगत् के निमित्त तथा उपादान-कारणरूप में कथन है।

११. एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
—श्वेत० ६।१२

सबका नियन्ता एकमात्र ब्रह्म है, जो अचेतन अनन्त संसार के सत्त्व-रजस्-तमस् रूप में एकसमान विद्यमान बीज—उपादान को अनेकरूप बना देता है, विविधरूप संसार के रूप में परिणत कर देता है। यहाँ भी नियन्तारूप में एकमात्र ब्रह्म तथा नियम्य उपादान-तत्त्व दोनों का स्पष्ट निर्देश है।

१२. स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईश० ८

उस स्वयम्भू परब्रह्म ने निरन्तर रहनेवाले उपादानतत्त्वों से (**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**) यथायथ समस्त अर्थों का निर्माण किया। यहाँ जगत् के निर्माता स्वयम्भू और उन सनातन उपादानतत्त्वों का पृथक् निर्देश है, जिनसे व्यवस्थानुसार यह जगत् परिणत होता है। ऋग्वेद (६।४७।१८) में अन्यत्र कहा– **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**, इन्द्र ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा माया—प्रकृतिरूप तत्त्वों से इस अनेकरूप जगत् का निर्माण करता है। यहाँ निर्माता और निर्माण-सामग्री दोनों तत्त्वों का पृथक् निर्देश है। **'मायाभिः'** पद में बहुवचन प्रकृतिरूप सत्त्व-रजस्-तमस्-रूप प्रकृति की असंख्यता का संकेत करता है।

वेदान्त दर्शन

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।—१।१।१

वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसको होगी जो उसे नहीं जानता, किन्तु प्रयत्न करने पर उसे जान सकता है। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को जानने की इच्छा करे—यह अपने-आपमें कितना उपहासास्पद है! जिज्ञासु और जिज्ञास्य एक नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म को जानने की इच्छा करने-वाला ब्रह्म से भिन्न कोई है। प्रकृति के जड़ होने से उसके जिज्ञासु होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ब्रह्म से अतिरिक्त चेतन, किन्तु अल्पज्ञ जीव ही ब्रह्म को जानने की इच्छा कर सकता है। **'सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति'**—अपने अस्तित्व के विषय में किसी को शंका नहीं होती, कोई यह नहीं सोचता कि 'मैं नहीं हूँ'। अतः जब यह कहा जाता है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः'** तो यहाँ जीवात्मा को द्रष्टा और परमात्मा को द्रष्टव्य मानकर दो भिन्न सत्ताओं का कथन किया जाता है। जिस ब्रह्म को जीवात्मा जानना चाहता है उसका परिचय देने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

२. जन्माद्यस्य यतः ।—१।१।२

ब्रह्म वह है जिससे इस जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है।[1]

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म दो प्रकार का है, अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नामरूप विकार की उपाधिवाला और दूसरा सब प्रकार

१. यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। लक्षण दो प्रकार का होता है—स्वरूपलक्षण व तटस्थलक्षण। पदार्थ के यथायथ स्वरूप का कथन स्वरूपलक्षण कहाता है, जैसे—**'सच्चिदानन्दस्वरूप'** अथवा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। तटस्थलक्षण किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए उस वस्तु का बोध कराता है।

की उपाधियों से मुक्त।[1] एक परब्रह्म है जो सर्वथा निर्गुण है, निष्क्रिय है। वह सत्तामात्र है। दूसरा अपर ब्रह्म है जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। यह दूसरी प्रकार का ब्रह्म ईश्वर कहाता है। परब्रह्म की अपेक्षा वह घटिया स्तर का ब्रह्म है। जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा की गई है, उसका परिचय सूत्रकार यह कहकर देते हैं कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है। शांकरमत के अनुसार परब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है। इसलिए वह न सृष्टि को उत्पन्न करता, न पालन करता और न विलय करता है। ऐसे समस्त कार्यों के करने का दायित्व अपर ब्रह्म पर है जो माया की उपाधि से ग्रस्त है।

आचार्य शंकर की घोषणा है कि उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नहीं होता।[2] फिर भी वह ब्रह्म को उपाधि से ग्रस्त होने के कारण विकारी मानते हैं। इस प्रकार एक ओर वह ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं मानते[3] तो दूसरी ओर वह उसी ब्रह्म को सृष्टिकर्त्ता कहते हैं। वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है कि वेदान्त-शास्त्र में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताया गया है।[4] आगे चलकर एक बार फिर उन्होंने लिखा है कि सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला है।[5] इस प्रकार ब्रह्म का सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कारण होना सर्वथा प्रमाणित है। वस्तुतः वेदान्त-दर्शन में अथवा अन्य दर्शनों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे दो प्रकार का ब्रह्म होने का संकेत मिलता हो। जयतीर्थ ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्म के दो रूप अप्रामाणिक होने से असिद्ध हैं।[6] मैक्स-

---

१. द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्॥—शा० भा० १।१।११

२. न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति।
—शा० भा० ३।२।११

३. कर्तृत्वानुपपत्तेः।—शा० भा० १।१।४

४. तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते।—शा० भा० १।१।४

५. सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्।
—शा० भा० १।२।६

६. न्यायसुधा, पृष्ठ १२४

मूलर के मत में "उपनिषद् साहित्य में दो ब्रह्म होने का सिद्धान्त कहीं नहीं मिलता।"[1] वास्तव में ब्रह्म एक ही है और वह वही है जिसका लक्षण सूत्रकार ने दूसरे, तीसरे और चौथे सूत्रों में किया है। ईश्वर तो ब्रह्म का ही अपर नाम है। यह कोई घटिया स्तर का ब्रह्म नहीं है। मृगतृष्णिका के जल से प्यास नहीं बुझ सकती और न रज्जु में प्रतीत होनेवाला सर्प काट ही सकता है। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य न निष्क्रिय परब्रह्म कर सकता है और न अध्यस्त या उपाधि-ग्रस्त विकारी ब्रह्म। जिसका यह स्वभावसिद्ध कार्य है, वही इसे कर सकता है।

मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने तथा भविष्यत् के लिए मोक्षलाभ के निमित्त अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए इस लोक में आता है। इस लोक की सृष्टि भी इन्हीं दोनों प्रयोजनों के लिए की गई है।[2] इन प्रयोजनों की सिद्धि में साधनभूत जगत् की रचना जिस ब्रह्म ने की है, हमारे लिए तो वही उपयोगी है। इसलिए हम तो उसी को जानना चाहेंगे। इसपर शंकर कहते हैं कि उसे जानकर क्या करोगे? वह तो माया की उपाधि से अध्यस्त अपर ब्रह्म है। पर, हमने तो ब्रह्म की जिज्ञासा इसलिए की थी, क्योंकि हमने पढ़ा था—**'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'** (यजु० ३१।१८)—उसको जानकर मनुष्य मोक्षलाभ करता है। वह परब्रह्म है। जल के प्यासे को मृग-तृष्णिका की ओर संकेत करके दौड़ा देना कहाँ का न्याय है? मोक्ष-लाभ के अभिलाषी ब्रह्मजिज्ञासुओं को ब्रह्मसूत्रकार ने **'जन्माद्यस्य यतः'** इन शब्दों में उसका परिचय देकर अपर ब्रह्म की ओर निर्देश करके उनके साथ धोखा किया है। यह तो निम्नस्तरीय अध्यस्त ब्रह्म निकला, मोक्षदाता वास्तविक ब्रह्म नहीं। परन्तु धोखा करनेवाले वास्तव में भाष्यकार शंकर हैं, सूत्रकार बादरायण (वेदव्यास) नहीं। वेदान्त सूत्रों में तो ऐसा कहीं नहीं कहा गया।

सच्चिदानन्द ब्रह्म ने जिस सृष्टि की रचना की है, वह यथार्थ है। यदि जगन्मात्र भ्रान्ति है तो इसका अर्थ होगा कि जगत् की रचना मात्र भ्रान्ति की रचना है, उसे धारण करना भ्रान्ति को बनाये रखना

1. Maxmueller : The Vedant Philosophy, 2nd reprint, 1855, Page. 72
२. **भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।**—योग० २।१८

है और उसकी प्रलय भ्रान्ति का अन्त है। इस प्रकार ब्रह्म मात्र भ्रान्ति की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण सिद्ध होगा। एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यदि शंकराचार्य की भाँति बादरायण जगत् को मिथ्या मानते तो वह ब्रह्म को असत् अथवा भ्रान्ति का जनक कहकर बदनाम न करते। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** के लिए यह कोई शोभा की बात नहीं कि उससे मिथ्या जगत् की उत्पत्ति हो अथवा अविद्यायुक्त शास्त्र का प्रादुर्भाव हो।[1] फिर, यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं थी तो उसने इस भ्रमरूप जगत् का निर्माण क्यों और किसके लिए किया ? वह स्वयं अपने को भ्रमित करने के लिए भ्रमजाल रचेगा, इसपर कौन विश्वास करेगा ?

सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य एक बार नहीं, बार-बार होता है। हर सृष्टि के बाद प्रलय और हर प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम अनादि काल से चला आता है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा[2]। यदि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म अज्ञान अथवा अविद्योपाधि से अभिभूत होकर बार-बार सृष्टि का निर्माण करता है तो इसका यह अर्थ होगा कि वह बार-बार अपनी भूल को दुहराता रहता है। सर्वज्ञ एवं त्रिकालाबाधितज्ञानसम्पन्न ब्रह्म ऐसा कभी नहीं कर सकता।

जगत् (सृष्टि) एक कार्य है। इस कार्य (कर्म=क्रिया) का कर्त्ता (कारक) ब्रह्म है। संस्कृत में छह कारक माने जाते हैं। उनमें तीन गौण हैं, क्योंकि उनके बिना भी कार्य-निष्पत्ति हो सकती है। कारकों में सबसे मुख्य **'कर्त्ता'** है, क्योंकि उसके बिना क्रिया-निर्वर्त्तन नहीं हो सकता। क्रिया का जिसपर सीधा प्रभाव पड़े वह **कर्त्तुरीप्सिततम** होने के कारण **'कर्म'** कारक कहाता है। इस कारक के अभाव में कोई गत्यात्मक क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती। **'कर्त्ता'** और **'कर्म'** कारकों के साथ-साथ **'सम्प्रदान'** कारक भी क्रियानिष्पत्ति के लिए आवश्यक है। जिसके लिए क्रिया की जाती है, वही **'सम्प्रदान'** कारक कहाता है। इस सृष्टिकर्म द्वारा ब्रह्म को जो अभिप्रेत है, अर्थात् जिसके लिए

---

१. **अविद्यावत् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।**
—शा० भा० १।१।१

२. **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥**—ऋ० १०।१९०।३

ब्रह्म सृष्टिरचना करता है, उस सम्प्रदान-कारक के रूप में सृष्टि में असंख्य जीव विद्यमान हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०।१२९) के अनुसार सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म के साथ **स्वधा** (प्रकृति) तथा **रेतोधाः** (जीव) विद्यमान थे। वहाँ **'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्'**—ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यदि ब्रह्म न होता तो तपस् का प्रेरक कौन होता ? तपस् के अभाव में प्रकृति अव्यक्त रहती। यदि प्रकृति न होती तो तपस् की क्रिया कहाँ होती और यदि जीव न होता तो सृष्टिरचना के द्वारा तपस् की क्रिया किसके लिए होती ? इस प्रकार **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्र के द्वारा ब्रह्मसूत्रकार ने ईश्वर, जीव और प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर त्रैतवाद की स्थापना की है।

३. आनन्दमयोऽभ्यासात्।—१।१।१२

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में उसे बार-बार आनन्दरूप बताया गया है।

किसी प्रसंग के तात्पर्य के निश्चायक चिह्न निम्नलिखित माने गये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

उपक्रम (विषय का आरम्भ) तथा उपसंहार (समाप्ति) ये दोनों एक ही विषय का प्रतिपादन करते हों। यहाँ उपक्रम में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१) कहा तो उपसंहार में **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तै० उ० ३।६) कहा है। उसी अर्थ का बार-बार कहना अभ्यास कहाता है। समस्त शास्त्रों में ब्रह्म को लक्ष्य कर उसे बार-बार आनन्दरूप कहा गया है। जैसे—**'रसो वै सः।'** (तै० उ० २।७); **'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।'** (तै० उ० २।८); **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'** (तै० उ० २।९); **आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।'** (मु० २।२।७); **'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'** (तै० उ० ३।६); **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।'** (बृ० ३।९।२८)। ऋग्वेद (४।३१।२), यजुर्वेद (३९।५), अथर्ववेद (२।१।५); मुण्डक (३।१।७), बृहद्० (४।३।३२), छान्दोग्य (७।२३।१) आदि अनेक प्रसंगों में ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म आनन्दमय है। इसके विपरीत जीवात्मा के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

४. नेतरोऽनुपपत्तेः ।—१।१।१६

इतर (जीव) आनन्दमय सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म से भिन्न संसारी जीव आनन्दस्वरूप नहीं है।

यदि ब्रह्म और जीव एक होते तो दोनों समानरूप से आनन्दमय होते और उपनिषद् में यह न कहा जाता कि जीवात्मा मृत्यु के अनन्तर आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त होता है।[1] वस्तुतः जहाँ परमात्मा स्वतः आनन्दमय है, वहाँ जीवात्मा उस आनन्दरूप ब्रह्म को पाकर आनन्दमय होता है।[2] उपनिषद् में ब्रह्म को जगत्स्रष्टा कहा गया है— **'स···इदं सर्वमसृजत'** (तै० २।६)। इस प्रकरण में यदि **'आनन्दमय'** पद जीवात्मा का निर्देशक माना जाए तो उसके सृष्टिकर्त्ता होने का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति जीव सृष्टिकर्त्ता कदापि नहीं हो सकता। इस सूत्र के भाष्य में शंकर ने भी इस भाव की पुष्टि करते हुए लिखा है—"आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं। यहाँ **'इतर'** का अर्थ ईश्वर से भिन्न संसारी जीव है। जीव के लिए आनन्दमय शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता ? इसलिए कि उसकी सिद्धि नहीं होती।"[3] इस प्रकार यहाँ शंकर ने जीव और ब्रह्म के भेद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

५. भेदव्यपदेशाच्च ।—१।१।१७

भेद का कथन होने से भी जीव तथा ब्रह्म भिन्न हैं। आनन्दमय ब्रह्म के साथ जीव का तादात्म्य सम्भव नहीं, क्योंकि उपनिषदों में दोनों को एक-दूसरे से भिन्न बताया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि "इस विज्ञानमय से भिन्न और उसके भीतर एक आत्मा आनन्दमय है।"[4] यहाँ **'विज्ञानमय'** पद से जीवात्मा तथा उससे भिन्न, किन्तु उसके भीतर, **'आनन्दमय'** से परमात्मा अभिप्रेत है। बृहद्० उपनिषद् (४।३।७) के जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद में जनक ने पूछा— "वह आत्मा कौन-सा है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"जो यह

---

१. **अस्माल्लोकात्प्रेत्य···एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।**—तै० उ० २।८

२. **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**—तै० उ० २।७

३. **इतश्चानन्दमयः पर एव आत्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात् ? अनुपपत्तेः।**
—शा० भा० १।१।१६

४. **तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः।**—तै० २।५

हृदय (मस्तिष्कगत ब्रह्मरन्ध्र) के अन्दर प्राणवृत्तिक इन्द्रियों के बीच घिरा हुआ विज्ञानमय ज्योतिःपुरुष है, वह चेतन आत्मा है!"[1] यहाँ स्पष्ट ही जीवात्मा के लिए विज्ञानमय पद का प्रयोग हुआ है। अन्यत्र (मुण्डक ३।२।७) भी कहा है—**'विज्ञानमयश्च आत्मा'**—विज्ञानमय जीवात्मा है। जीवात्मा के लिए केवल **'विज्ञानमय'** पद का प्रयोग भी अनेकत्र (तै० २।५, बृहद्० ३।७।२२) हुआ है। यहाँ विज्ञानमय—जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म से भिन्न बताया है। शंकर ने इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—"यहाँ भी आनन्दमय जीव नहीं, क्योंकि तै० उ० के आनन्दमय अधिकरण (२।७) में कहा है—'ब्रह्म रसमय (आनन्दमय) है। इस रस को पाकर जीवात्मा आनन्दमय होता है। जीवात्मा आनन्द का लब्धा है, ब्रह्म लब्धव्य है। पानेवाला स्वयं अपना प्राप्तव्य नहीं हो सकता। यहाँ स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म में भेद बताया है।"[2]

आचार्य शंकर ने जीवात्मा और परमात्मा के इस भेद को अविद्या-कृत माना है, वास्तविक रूप में—परमार्थ में उन्हें अभिन्न बताया है, परन्तु जीवात्मा और परमात्मा में इस भेद को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। यदि सूत्रकार को यह अभिप्रेत होता तो यहाँ इस हेतु का निर्देश करने की क्या आवश्यकता थी? मोक्षावस्था तभी प्राप्त होती है, जब अविद्या नहीं रहती। उस अवस्था में भेदव्यपदेश अविद्याकृत नहीं कहा जा सकता। परन्तु छान्दोग्य (८।३।४) में स्पष्ट कहा है कि उस अवस्था में भी जीव की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है।[3] अन्यत्र बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—"जन्म लेने के बाद पुरुष शरीर ग्रहण करते ही पाप से जुड़ जाता है और मरने के बाद शरीर छोड़ने पर पाप से छूट जाता है।"[4] यह कथन जीवात्मा के सम्बन्ध में ही किया

---

१. कतम आत्मेति? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।
—बृहद्० ४।३।७

२. इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० २।७) न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति। इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति।—शा० भा० १।१।१७

३. परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

४. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति।—बृहद्० ४।३।८

जा सकता है। परमेश्वर तो पापरहित है।[1]

'आनन्दमय' पद से जीवात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता, इसकी पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

६. कामाच्च नानुमानापेक्षा।—१।१।१८

आनन्दमय की प्राप्ति से जीवात्मा की सब कामनाओं की पूर्त्ति का उल्लेख मिलता है। इसलिए शब्द द्वारा साक्षात् कहे गये अर्थ के होते हुए अनुमान के आधार पर जीवात्मा के लिए आनन्दमय पद का प्रयोग नहीं माना जा सकता।

जीवात्मा में आनन्द को प्राप्त करने की कामना—अभिलाषा बराबर देखी जाती है। **'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।'** कामना सदा अप्राप्त वस्तु की होती है। यदि जीवात्मा स्वरूपतः आनन्दमय होता तो वह आनन्द की कामना क्यों करता? "जो व्यक्ति गुहास्थित ब्रह्म को जान लेता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।"[2] इसके विपरीत ब्रह्म के विषय में यह कहा गया है कि "वह कामनारहित है, धीर, अमृत, स्वयंभू और आनन्द से पूर्ण है—उसमें कोई न्यूनता नहीं है।" इस प्रकार कामना के आधार पर जीव ब्रह्म से भिन्न है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों में तो ब्रह्म के सन्दर्भ में भी कामना का उल्लेख मिलता है, जैसे—**"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय"** (तै० २।६)। उसने (ब्रह्म ने) कामना की, मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। यदि कामना होने के कारण जीवात्मा को आनन्दमय नहीं माना जा सकता तो ब्रह्म को भी आनन्दमय नहीं कहा जा सकता।

वस्तुत जीवात्मा की कामना की समानता ब्रह्म की इस कामना से नहीं की जानी चाहिए। सृष्टि की उत्पत्ति करना तो ब्रह्म का स्वभाव है। अन्यथा आप्तकाम में कामना का क्या काम?[3] जीवात्मा की कामना अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना है किन्तु ब्रह्म की सर्गविषयक कामना के लिए यह नहीं कहा जा सकता। **'भोगापवर्गार्थं**

---

१. **अपापविद्धम्**—ईश० ८; **अपहतपाप्मा**—छा० ८।७।३

२. **यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान्।**—तै० २।१

३. **देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा।**

दृश्यम्'—परमेश्वर जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग के लिए सृष्टि की रचना करता है। इसमें उसका निजी स्वार्थ नहीं है, यह उसका सत्यसंकल्प है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का यह क्रम अनादि-अनन्त है। यहाँ अप्राप्त को प्राप्त करने का कोई प्रश्न नहीं है।

७. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।—१।१।१९

शास्त्र इस आनन्दमय ब्रह्म में इस जीव का योग बताता है।

योग अथवा सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों का होता है। जीव व प्रकृति के लिए 'आनन्दमय शब्द नहीं है। जीव व ब्रह्म का योग होने के उपदेश में उपनिषद् का यह वचन प्रमाण है—"निश्चय ही जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय, अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, निराधार ब्रह्म में भयरहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तब वह अभयरूप मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु जब अज्ञान के कारण जीवात्मा परमात्मा से दूर रहकर उससे भिन्न पदार्थों में चित्त लगाता है, तब उसे भय होता है।"[1] ब्रह्म में जीवात्मा के योग का उल्लेख यजुर्वेद में भी उपलब्ध होता है। वहाँ बताया है कि "समस्त भूत, लोक-लोकान्तर, दिशा-प्रदिशाओं की यथार्थता को जानकर परमात्मा की प्रथम वाणी वेद के अनुसार आचरण करता हुआ आत्मज्ञानी अपने-आपसे परमात्मा में प्रवेश करता है—उसे प्राप्त कर लेता है।"[2]

इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकर लिखते हैं—"यहाँ भी आनन्दमय न प्रधान (प्रकृति) के लिए है, न जीव के लिए, क्योंकि कहा है कि ज्ञानी होने पर जीव का ब्रह्म से योग होता है। आत्मा से योग का अर्थ है मुक्ति।"[3] यहाँ मुक्ति में अर्थात् परमार्थ में जीवात्मा का परमात्मा से योग कथन किया है, परमात्मा में विलय नहीं। जैसाकि

---

१. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।—तै० २।७

२. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मनमभि सं विवेश॥
—यजु० ३२।११

३. इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः तद्भावापत्तिः, मुक्तिरित्यर्थः।—शा० भा० १।१।१९

पहले स्पष्ट हो चुका है, योग सदा दो भिन्न वस्तुओं में होता है। इससे स्पष्ट है कि परमार्थ में भी योग की सत्ता बनी रहती है। यहाँ परमात्मा को आनन्दमय बताते हुए जीव तथा प्रधान (प्रकृति) के लिए उसका निषेध किया है और इस तरह, प्रकारान्तर से, ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है।

८. **सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्** ।—१।२।१

शास्त्र में सर्वत्र उपास्य रूप से ब्रह्म का उपदेश होने से उपासना-प्रसंगों में वही ग्राह्य है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१) में त्रिपाद अमृत की उपासना का प्रकरण है। यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता, उसी के आधार पर स्थित रहता और उसी के द्वारा लय को प्राप्त होता है, ऐसा समझकर शान्त उपासक ब्रह्म की उपासना करे। यद्यपि यहाँ ब्रह्म की उपासना का स्पष्ट निर्देश है, पर आगे **'मनोमय'** आदि ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं, जिनके आधार पर आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब जीवात्मा को लक्ष्य कर कहा गया है। ब्रह्म को तो **'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'** (मु० २।१।२) कहा गया है। सूत्रकार ने बताया कि सर्वत्र अध्यात्म एवं उपासना-प्रसंगों में निश्चित रूप से उपास्य ब्रह्म का उपदेश होने से यहाँ भी ब्रह्म को ही उपास्य माना गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में मनोमय का अर्थ 'मन का विकार' अथवा 'मन से विशिष्ट' नहीं। वह ब्रह्म शुद्ध मन द्वारा ग्राह्य है, सर्वोत्कृष्ट चैतन्य उसका शरीर है—मनोमय से यहाँ यही तात्पर्य है। 'प्राण' पद का अर्थ है उत्कृष्ट चैतन्य अथवा 'प्राण' जीवात्मा का उपलक्षक है। वह (प्राण) जिसका शरीर है, अर्थात् उसमें भी व्याप्त रहता है। **'प्राणमयः'** कहने से यही अभिप्रेत है। वह ब्रह्म सत्यसंकल्प, सर्वव्यापक, पूर्णकाम, सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से महान् है। ऐसे स्वरूप का ध्यान करने के लिए उपासक की भावना होती है—**'एष म आत्माऽन्तर्हृदये, एतद् ब्रह्म, एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि'** (छा० ३।१४।४)—मेरे हृदय के अन्दर जो यह आत्मा विराजमान है, वह ब्रह्म है, यहाँ से शरीर का परित्याग कर मैं इसको प्राप्त करनेवाला हूँ।

यहाँ उपास्य ब्रह्म और उपासक जीवात्म-पुरुष का स्पष्टरूप से पृथक् कथन है। उपासक जीवात्मा का उपास्य परमात्मा से ऐकात्म्य नहीं हो सकता।

९. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।—१।२।२

विवक्षित गुणों के उपपन्न होने से भी इस प्रकरण में ब्रह्म ही उपास्य है।

छान्दोग्य (३।१४।२-४) में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसकी जो विशेषताएँ बताई हैं, वे केवल ब्रह्म में संगत हो सकती हैं। सत्यसंकल्प, सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता आदि गुण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं। इसके अनन्तर हृदय के अन्दर विराजमान आत्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म बताकर **'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः'**—वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु तथा सब लोक-लोकान्तरों से बड़ा है, इत्यादि गुण ब्रह्म का बोध कराते हैं।

१०. अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।—१।२।३

ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीव में उपपन्न नहीं होते। इसलिए शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।

सूत्र में 'शारीर' पद जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह ठीक है कि व्युत्पत्त्यर्थ से शरीर में रहनेवाले की 'शारीर' संज्ञा है। शरीर में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वास है, परन्तु जहाँ जीवात्मा केवल शरीर में रहता है और शरीर के साथ उसका सम्बन्ध जन्म-मरण-व्यवहार तथा सुख-दुःख आदि का प्रयोजक है, वहाँ परमात्मा सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी होने से सर्वत्र विद्यमान रहता है और शरीर एवं अन्य वस्तुओं में रहने पर भी जन्म-मरण अथवा प्रादुर्भाव-तिरोभाव से प्रभावित नहीं होता। शरीर द्वारा जो जन्म-मरण के बन्धन में आता है, वास्तव में वही शारीर है, और वह जीवात्मा है। इसलिए यहाँ 'शारीर' पद से जीवात्मा ही अभिप्रेत है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म के शरीरांगों का जो वर्णन मिलता है, वह मात्र औपचारिक है।

शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में उक्त मान्यता की पुष्टि करते हुए लिखा—"पहले सूत्र में विवक्षित गुणों की उपपत्ति बताई। इस सूत्र में कहा है कि वे गुण जीव में नहीं पाये जाते। यदि कोई कहे कि शरीर में तो ब्रह्म भी विद्यमान है, तो यह ठीक है। परन्तु ब्रह्म 'शरीर में है', 'शरीर में ही है' ऐसा नहीं। वह पृथिवी से भी बड़ा है, अन्तरिक्ष से भी बड़ा है—आकाशवत् सर्वव्यापक है, नित्य है। जीव केवल शरीर

में है, शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। उसकी वृत्तियाँ अन्यत्र नहीं हैं।"[1] इस प्रकार यहाँ युक्तिपूर्वक बड़े स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट किया है। यदि अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीव बना होता तो उपर्युक्त कथन न बन पाता। उपाधि के कारण वस्तु का स्वभाव नहीं बदल जाता। यदि **'शारीर'** पद ब्रह्मवाचक होता, तो भी उसके गुण यथावत् उपलब्ध होने चाहिए थे। परन्तु सूत्र में उसका निषेध किया गया है। अतः 'शारीर' पद से जीवात्मा ही अभिप्रेत है जो गुण-कर्म-स्वभाव में अन्यथा होने से ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है।

११. कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।—१।२।४

कर्म और कर्ता का कथन किये जाने से भी।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१) में शान्त उपासक जीवात्मा उपासना का कर्त्ता है और ब्रह्म कर्म है। क्रिया का जिसपर सीधा प्रभाव पड़े, वह कर्त्तुरीप्सितम होने के कारण कर्म कहाता है। 'उपासीत' क्रिया का कर्म होने से ब्रह्म उपास्य सम्भव है, जीवात्मा नहीं। उपासना का कर्त्ता जीवात्मा तथा उसका कर्म ब्रह्म परस्पर भिन्न हैं। शंकराचार्य के अनुसार उपास्य-उपासकभाव तो भेद के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए भी मनोमयत्वादि गुणों से यहाँ जीव का अभिप्राय नहीं।[2]

भेद स्पष्ट है। उपाधि का उल्लेख नहीं। यदि ब्रह्म ही उपाधि के कारण जीव हो गया होता तो भी उपास्य-उपासक का प्रश्न न उठता।

१२. शब्दविशेषात् ।—१।२।५

शब्दविशेष से भी जीव तथा ब्रह्म में भेद सिद्ध है। शब्दों के साथ विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग भी सार्थक है। छान्दोग्य (३।१४।४) में कहा—**'एष म आत्माऽन्तर्हृदये'** वह परमात्मा (**एष आत्मा**) मेरे हृदय में (**मे हृदये**) है। यहाँ जीवात्मा का निर्देश **'मे'** इस षष्ठी विभक्त्यन्त

१. पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति। 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापितश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्। —शा० भा० १।२।३

२. तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादि विशिष्टः।—शा० भा०

पद से किया है, जबकि परमात्मा का **'एष आत्मा'** इन प्रथमा विभक्त्यन्त पदों से किया है। इससे जीवात्मा का परमात्मा से भेद स्पष्ट है। इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकर ने लिखा—"शतपथ ब्राह्मण में आया है कि यह हिरण्मय पुरुष अन्तरात्मा में रहता है। यहाँ सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त **'अन्तरात्मन्'** शब्द जीव के लिए है और प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त शब्द **'अयं पुरुषो हिरण्मयः'** ब्रह्म के लिए है। इससे दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है।"[1]

'अन्तरात्मन्'—**'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'** (अष्टा० ७।१।३९) इत्यादि पाणिनीय नियम से विभक्ति का लुक् हो गया है। सूत्र **'न ङिसंबुद्ध्योः'** (८।२।८) के अनुसार पदान्त में 'न' का लोप नहीं होता। इस प्रकार शब्दभेद भी जीव तथा ब्रह्म की भिन्नता में प्रमाण है।

१३. स्मृतेश्च।—१।२।६

स्मृतिशास्त्र के आधार पर भी जीवात्मा-परमात्मा का भेद स्पष्ट है।

मनुस्मृति (८।९१) में न्यायाधीश के सन्मुख साक्षी देनेवाले व्यक्ति के लिए कहा गया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥

साक्षी के प्रति सच बोलने की प्रेरणा देते हुए कहा जा रहा है—हे भलेमानस! जो तू यह समझता है कि मैं अकेला हूँ, मेरे किये को और कोई नहीं देखता या जानता, ऐसा तू मत समझ। बुराई-भलाई का देखनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है।

न्यायाधीश के सन्मुख साक्षी देनेवाला देहधारी जीवात्मा है। स्मृतिकार के अनुसार जीवात्म-सम्बन्धी हृदयदेश में पाप-पुण्य का द्रष्टा सर्वज्ञ परमात्मा सदा विद्यमान रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि हृदयदेश में स्थित जीवात्मा से अतिरिक्त परमात्मा भी है—यह

---

१. ...**'एवमयमन्तरात्मन पुरुषो हिरण्मयः'** (शत० १०।६।३।२) **इति। शरीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः। सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति तस्माद्विशिष्येऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात् तयोर्भेदोऽधिगम्यते।**—शा० भा० १।२।५

स्मृतिकार को अभिमत है। इससे स्मृतिशास्त्र के आधार पर जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। मनुस्मृति में अन्यत्र (१२।१२५) कहा है—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

जो समस्त प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह परम पद (परमात्मा) को प्राप्त करता है। इस श्लोक के पूर्वार्ध में **प्रथमान्त 'यः'** तथा **द्वितीयान्त 'आत्मानम्'** के प्रयोग से स्पष्ट है कि ये क्रमशः **'पश्यति'** क्रिया के कर्त्ता और कर्म हैं। इसी प्रकार उत्तरार्ध में **प्रथमान्त 'सः'** तथा **द्वितीयान्त 'परं पदम्'** के प्रयोग से स्पष्ट है कि ये क्रमशः 'अभ्येति' क्रिया के कर्त्ता और कर्म हैं। कर्त्ता और कर्म के रूप में प्रयुक्त जीवात्मा व परमात्मा एक नहीं हो सकते।

शंकराचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या में जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद सिद्ध करने के लिए, स्मृति से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए भगवद्-गीता का श्लोक (१८।६१) उद्धृत किया है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां-हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'**। यह ठीक है कि यहाँ व्याप्य-व्यापकरूप में कथित जीवात्मा-परमात्मा में भेद स्पष्ट सिद्ध होता है। परन्तु इस प्रमाण का यहाँ उदधृत किया जाना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। जब महाभारत और उसके अन्तर्गत गीता तथा इन ब्रह्मसूत्रों के रचयिता वेदव्यास को माना जाता है, तब स्वप्रतिपादित मन्तव्य की पुष्टि के लिए उसी की रचना से स्मृतिरूप में प्रमाण उपस्थित करना समंजस प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'स्मृतेश्च' सूत्र की रचना के समय वेदव्यास की भावना अपनी अन्य रचना को प्रमाणरूप में उपस्थित करने की रही हो, ऐसा युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए शंकराचार्य का यहाँ स्मृति के नाम पर गीता को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करना चिन्तनीय है।

१४. संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्।—१।२।८

ब्रह्म को सुख-दुःख आदि भोग की प्राप्ति होनी चाहिए, यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों (जीवात्मा-परमात्मा) में अत्यन्त भेद है।

सर्वगत होने से ब्रह्म हृदयदेश में भी रहता है। वहीं पर जीवात्मा का वास है। वहाँ रहता हुआ जीवात्मा सुख-दुःखादि भोग को प्राप्त

करता है, परन्तु ब्रह्म को वह भोग प्राप्त नहीं होता। कारण यह है कि दोनों में परस्पर अत्यन्त भेद है। जीवात्मा कर्त्ता भोक्ता है—धर्म-अधर्मरूप कर्मों को करता और उनके सुख-दुःखरूप फलों को भोगता है। इसके विपरीत ब्रह्म आप्तकाम तथा अपहतपात्मा होने से समस्त क्लेश-कर्म और उनके परिणामों से सर्वथा अछूता रहता है। एक ही वृक्ष पर रहनेवाले दो पक्षियों (ऋ० १।१६४।२०) की तरह जीवात्मा तथा परमात्मा के एक ही हृदय में वास करने पर भी, जीवात्मा सुख-दुःखादि का भोग करता है, किन्तु ब्रह्म उससे सर्वथा अलिप्त रहता है। कारण यह है कि दोनों स्वरूपतः परस्पर भिन्न हैं। भोग अपने किये धर्माधर्मरूप कर्मों का परिणाम है। शरीरधारी जीवात्मा कर्म करता तथा पाप-पुण्य का संचय करता है, इसलिए वही सुख-दुःख में लिप्त रहता है। जब जीवात्मा कामना के वशीभूत होकर दुःख भोगता है तो ब्रह्म उसमें भागीदार नहीं होता है। जहाँ परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण शरीर में प्रविष्ट है, वहाँ जीवात्मा धर्माधर्म का अनुष्ठान करने के लिए शरीर धारण करता है।

शंकराचार्य ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—"यद्यपि ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान है, तथापि उसे सुख-दुःख-संभोग नहीं लगता। क्यों? जीव और ब्रह्म में विशेषता (भेद) है। जीव कर्त्ता, भोक्ता, धर्म-अधर्म का साधन और सुखी-दुःखी है। ब्रह्म पाप आदि से मुक्त है। इसलिए भोग जीव के लिए है, ब्रह्म के लिए नहीं। यदि कहो कि सर्व-व्यापक होने से ब्रह्म में भी भोग का प्रश्न होगा, तो कहते हैं कि नहीं। आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु वस्तु के जलने पर वह नहीं जलता।"[1] शंकर ने पहले तो सूत्र की व्याख्या सूत्रकार के आशय के अनुकूल की, पर जैसे ही उन्हें अपने अद्वैतवाद की याद आई और उक्त व्याख्या अपने मन्तव्य के प्रतिकूल जान पड़ी, वैसे ही उन्होंने पैंतरा बदला और सूत्रार्थ में अपनी मान्यता को बलात् आरोपित करके कह डाला—

१. न तावत् सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात् शारीरवद् ब्रह्मणः सम्भोगप्रसंगः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शरीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्त्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुख-दुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादि-गुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत आकाशादीनामपि दाहादि-प्रसंगः।

"जीव और ब्रह्म में अभेद होने पर भी जीव के भोक्ता होने से ब्रह्म भोक्ता नहीं हो जाता, क्योंकि जीवात्मा को भोग मिथ्याज्ञान के कारण होता है और ब्रह्म को मिथ्याज्ञान न होने के कारण भोग की प्राप्ति नहीं होती।"[1] परन्तु सूत्र में अथवा उसके पूर्वापर-प्रसंग में कहीं भी मिथ्याज्ञान होने न होने का संकेत तक नहीं है। यदि सूत्रकार को यह अभिमत होता तो वह **'वैशेष्यात्'** के स्थान पर **'मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्'** लिख सकता था। जब उनसे कहा गया कि यदि ब्रह्म ही एकमात्र चेतन सत्ता है तो तथाकथित जीवचेतन का भोग वास्तव में ब्रह्म का ही भोग होगा। इसपर उन्होंने झुँझलाकर आपत्तिकर्त्ता से पूछा—"तुम कैसे कहते हो कि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चेतन सत्ता नहीं है ?"[2] इसे कहते हैं 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे'। आपत्तिकर्त्ता तो जीव से अतिरिक्त चेतन को मानता है, स्वयं शंकर ही नहीं मानते।

वस्तुतः सृष्टि की रचना ही जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिए हुई है। अपवर्ग को सत्य मानकर भोग को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। सुख-दुःख देहादिसम्बन्ध का परिणाम है। यदि जीवात्मा के समान ब्रह्म का देहादिसम्बन्ध होता तो वह निश्चय ही कर्मानुष्ठान तथा तदनुसार फलोपभोग के लिए विवश होता। परन्तु वह तो स्वरूपतः अजन्मा एवं अकाम होने के कारण कभी भी देहादि के बन्धन में नहीं आता। इस वैशेष्य के कारण ही उसे भोग की प्राप्ति नहीं होती। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह भी मान लिया जाए कि जीवात्मा को मिथ्याज्ञान के कारण भोग होता है और ब्रह्म को मिथ्याज्ञान न होने के कारण भोग नहीं होता तो भी ज्ञान (मिथ्याज्ञान—यथार्थज्ञान) के आधार पर द्वैत की प्राप्ति होने से दोनों में भेद सिद्ध होता है। फिर, जीव तथा ब्रह्म का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप होने से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उसके फलोपभोग की व्यवस्था सम्भव न होगी। समस्त जीवात्माओं के

---

१. नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः। मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः।

२. इदं तावद्देवानां प्रियः प्रष्टव्यः, कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसीयत इति।
—१।२।८

ब्रह्मरूप होने से समस्त कर्मों का भोग समान रूप से ब्रह्म को ही प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्म और कर्मफल का सांकर्य होगा। कर्मफलभोग की व्यवस्था जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने पर ही सम्भव है।

१५. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।—१।२।११

यह सूत्र कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली के प्रारम्भिक सन्दर्भ की ओर संकेत करता है। वहाँ लिखा है—"गुहा—हृदयप्रदेश में दो आत्मा प्रविष्ट हैं।"[1] निश्चित रूप से उनका दर्शन वहाँ होता है। द्विवचनान्त 'आत्मा' पद से जीवात्मा तथा परमात्मा अभिप्रेत है। शास्त्रों में अनेकत्र जीव तथा ब्रह्म के गुहा अर्थात् हृदयदेश में रहने का उल्लेख मिलता है।[2] **'स वा एष हृदि'** (छा० ८।३।३), **'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'** (बृहदा० ४।३।६) इत्यादि प्रमाणों से जीवात्मा का तथा **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८।६१) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का हृदयदेश में विद्यमान होना प्रसिद्ध है। दर्शन की क्रिया तभी सम्भव है जब द्रष्टा व दृश्य दोनों एकत्र हों। ब्रह्म सर्वव्यापी है, किन्तु जीव एकदेशी है। केवल हृदयदेश ही ऐसा स्थान है जहाँ दोनों एकत्र विद्यमान हैं। इसलिए ब्रह्म के सर्वत्र विद्यमान होने पर भी उसका साक्षात्कार हृदयदेशरूपी गुहा से अन्यत्र सम्भव नहीं। इस सूत्र में द्विवचनान्त 'आत्मा' पद से जीव तथा ब्रह्म का द्वैत अथवा परस्पर भेद स्पष्ट है। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते। शंकर ने लिखा है—**"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति"** इति तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते।" (शा० भा० १।२।१२) अर्थात् कठोपनिषद् के १।२।१२ से भी जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध होता है। किन्तु यहाँ तो **प्रथमान्त 'धीरः'** तथा **द्वितीयान्त 'देवं'** का स्पष्ट भेद है। 'अनुप्रवेश' से भी दोनों में तादात्म्य की सिद्धि नहीं होती। बादरायण के सूत्र में अभेद का संकेत नहीं है, इस बात को तो शंकर को भी इन शब्दों में स्वीकार करना पड़ा—**'सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्।'** जीव व ब्रह्म में भेद सूत्रकार ने माना

---

१. **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥—कठ० ३।१

२. कठ० २।१२, २।२०; श्वेत० ३।२०; मु० २।१।१०, ३।१।७; तै० २।१; यजु० ३२।८; अथर्व० १०।८।४३

है—इतना तो शंकर स्वीकार करते हैं किन्तु वह इस भेद को अविद्या-कल्पित मानते हैं। सूत्र में अविद्याकल्पित होने का कोई संकेत नहीं है। यह शंकर की अपनी कल्पना है।

१६. विशेषणाच्च।—१।२।१२

विशेषण=भेद करने से भी जीव-ब्रह्म का भेद उपपन्न होता है।

उपनिषद् के पूर्वोल्लिखित प्रसंग में दिये गये विशेषणों—भेदक पदों से भी यह निश्चय होता है कि जीवात्मा और परमात्मा परस्पर भिन्न हैं। इस सूत्र की व्याख्या शंकर ने इस प्रकार की है—"भेद तो विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा में ही होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ बताया है। इस रूपक से विदित होता है कि यहाँ तात्पर्य 'विज्ञानात्मा' अर्थात् जीव से है जो संसाररूपी यात्रा मोक्षप्राप्ति के लिए कर रहा है। उसी उपनिषद् में कहा है कि "वह मार्ग के पार जाकर विष्णु के परमपद को पाता है।" यहाँ गन्तव्य परमात्मा है। कठोपनिषद् में इससे पहले कहा गया था कि "धीर पुरुष अध्यात्मयोग द्वारा हृदय के भीतर छिपे हुए देव को जान-कर हर्ष और शोक के द्वन्द्वों से छूट जाता है।" यहाँ जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद है। यहाँ परमात्मा का प्रकरण है, क्योंकि कहा है, 'ब्रह्म को जाननेवाले कहते हैं।' इससे स्पष्ट है कि कहने का विषय परमात्मा है। इसलिए यहाँ जीव और ब्रह्म दोनों ही समझने चाहिएँ। मुण्डकोपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा' आदि मन्त्र में भी यही बात है। यहाँ सचमुच के पक्षियों का वर्णन नहीं है। 'इनमें से एक पिप्पली को खाता है'—इससे विज्ञानात्मा (जीव) अभिप्रेत है। 'दूसरा न खाता हुआ देखभाल करता है'—यहाँ 'चेतनत्व' और 'न खाना' दोनों से परमात्मा अभिप्रेत है। मुण्डक का ही एक और मन्त्र है जिसमें कहा है—"एक ही वृक्ष पर एक पुरुष परवश होता हुआ शोक करता है परन्तु जब उसी वृक्ष पर दूसरे स्वामी को देखता है तो शोक छूट जाता है।"[1] यहाँ भी दोनों का भेद स्पष्ट है।

---

१. विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (कठ० ३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (कठ० ३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम्। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन

उक्त सन्दर्भ में शंकर ने दो शब्दों का प्रयोग किया है—एक विज्ञानात्मा और दूसरा परमात्मा। निश्चय ही 'विज्ञानात्मा' जीव के लिए है। एक स्थान पर स्पष्ट लिख भी दिया है—**'जीवपरमात्मानौ'**। शंकर ने यहाँ युक्तियों तथा प्रमाणों की कितनी सुन्दर तथा प्रबल शृंखला द्वारा द्वैत की पुष्टि की है। सच तो यह है कि यह सब कहने के पश्चात् शंकराचार्य के द्वैतवादी होने में तनिक भी शंका नहीं रह जाती। इसके रहते हुए द्वैत के खण्डन में शंकर का कुछ भी कहना **'वदतोव्याघात'** का अश्रुतपूर्व उदाहरण होगा। यहाँ **'विज्ञानात्मा'** में **'विज्ञान'** पद ज्ञान का बोधक है, अविद्या या भ्रम का नहीं। अपने ईश को विज्ञानात्मा ही देख सकता है, अविद्याकल्पित जीव नहीं। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ इस (द्वा सुपर्णा··· ऋ० १।१६४।२०) मन्त्र का उल्लेख हुआ है, उसके आगे के सन्दर्भों (मु० ३।१।२, श्वेत० ४।७) में द्रष्टा तथा द्रष्टव्य-भाव से यथाक्रम जीवात्मा-परमात्मा का विशिष्ट रूप से वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसा वर्णन उस अर्थ को पुष्ट करता है जिसे 'ऋतं पिबन्तौ' के विषय में प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद् के किसी भी सन्दर्भ में यह नहीं लिखा कि अविद्यावश ब्रह्म ही अपने को जीवरूप मानकर भोक्ता बन जाता है।

१७. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते।—१।२।२०

देही जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों (काण्व व माध्यन्दिन) शाखावालों ने जीवात्मा का उल्लेख ब्रह्म से भिन्न मानकर किया है और ब्रह्म को स्पष्ट रूप से जीवात्मा में अन्तर्यामी बताया है। काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण तथा उसी

देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ० २।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृ-मन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीव-परमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद् विज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमा-नमिति वीतशोकः॥—(मु० ३।१।१२) इति।

के चतुर्दश काण्ड पर आधारित बृहदारण्यकोपनिषद् (३।७।२२) में कहा है—

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

यहाँ 'विज्ञान' पद का प्रयोग शारीर जीवात्मा के लिए हुआ है। स्पष्ट ही यहाँ अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) से जीवात्मा को भिन्न बताया है और दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्थिर किया है। माध्यन्दिन-शाखीय शतपथ ब्राह्मण (१४।६।७) के इस प्रसंग में 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करके कहा है—**"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद···।"** अर्थात् जो आत्मा में स्थित हुआ आत्मा से भिन्न है। इस प्रकार दोनों शाखावालों के उक्त प्रकार—भेदसहित कहने से शारीर जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं हो सकता।

शंकराचार्य ने पहले तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया—**"तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति"**—इसलिए शारीर जीवात्मा से अन्तर्यामी ईश्वर भिन्न है। परन्तु अद्वैतवाद का स्मरण आते ही कहने लगे कि शारीर जीवात्मा और परमात्मा में यह भेद अविद्योपाधि के कारण है, वास्तविक नहीं। भीतर तो एक ही आत्मा है, अविद्योपाधि के कारण व्यवहार में एक ही को दो मान लिया जाता है, घटाकाश-महाकाश की तरह। परन्तु सूत्र में इस बात का कोई संकेत नहीं है। वस्तुतः किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण उससे पृथक् नहीं हो सकते। स्वयं शंकर ने स्वीकार किया है कि उपाधि के योग से किसी वस्तु का स्वभाव नहीं बदल जाता—**'न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति'** (शा० भा० ३।२।११)। इसलिए अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग करके ब्रह्म जीवरूप नहीं हो सकता। रामानुज ने बृहद्० के अन्तर्गत अन्तर्यामी ब्राह्मण के आधार पर जीव-ब्रह्म में भेद का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—**"अतो अन्तर्यामी प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम्"**—इसलिए निर्दोष एवं अन्तर्यामी परमात्मा का जीवात्मा से भिन्न होना सिद्ध है।

१८. विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ ।—१।२।२२

विशेषण और भेदपूर्वक कथन से भी दूसरे दोनों—जीवात्मा तथा

प्रकृति—ब्रह्म नहीं हैं। 'अक्षर' पद से ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों का ग्रहण होता है, किन्तु मुण्डक १।१।६ में निर्दिष्ट अदृश्य आदि तथा २।१।२ में निर्दिष्ट दिव्य, अमूर्त्त, अज, अप्राण, अमना, शुभ्र आदि विशेषण न जीवात्मा के हो सकते हैं और न प्रकृति के। अतः प्रकृति तथा जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करनेवाले हेतुओं से ब्रह्म निश्चय ही प्रकृति और जीवों से भिन्न है।

१९. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्।—१।३।२

मुक्तात्माओं का प्राप्तव्य कथन किये जाने से ब्रह्म जीवात्मा से भिन्न है। **'मुक्तैरूपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्'**—मुक्तों से प्राप्य को मुक्तोपसृप्य कहते हैं। **'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'** (मु० २।२।५) इस वाक्य में ब्रह्म को जानने का निर्देश है। जब जीवात्मा ब्रह्म को जान लेता है, उस अवस्था का वर्णन करते हुए आगे लिखा है—"उस सर्वव्यापक ब्रह्म के जान लेने पर जीवात्मा की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं।"[1] तदनन्तर "ज्ञानी पुरुष नामरूपात्मक जगत् से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।"[2] आगे उस स्थान का वर्णन है जो ऐसे मुक्तात्माओं के लिए प्राप्तव्य कहा गया है—"पूर्णज्ञानी कृतात्मा वीतराग प्रशान्त और आत्मज्ञानी योगी उस सर्वव्यापक ब्रह्म को प्राप्त होकर पूर्ण आनन्द में मग्न रहते हैं।"[3] प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा का प्राप्तव्य=उपसृप्य उससे भिन्न परमात्मा है। रामानुज ने कहा है कि जो द्यु आदि का आयतन है और जिसका निगमन वाक्यों में मुक्तात्मा के लिए प्राप्तव्य के रूप में उपदेश है, वह परब्रह्म है।[4] निश्चय ही वह प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा से भिन्न है।

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥—मु० २।२।८

२. तथा विद्वान् नामरूपादिमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।—मु० ३।२।-

३. संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥
—मु० ३।२।५

४. अतो विधूतपुण्यपापैर्निरञ्जनैः प्रकृतिसंसर्गरहितैः परेण ब्रह्मणा परं साम्यमापन्नैः प्राप्तव्यनिर्दिष्टो द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः परं ब्रह्मैव।

२०. भेदव्यपदेशात् ।१।३।५

'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (मु० २।२।५) इस वाक्य में जिस ब्रह्म को जानने का निर्देश है, वह सबके लिए ज्ञातव्य है। वह एक—अद्वितीय आत्मा परमात्मा है जिसे ज्ञेय कहा है। जीवात्मा जाननेवाला है, इसलिए वह ज्ञाता है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद स्पष्ट है। शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं—**"भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन"**—अर्थात् यहाँ भेद का उल्लेख है 'उसी एक आत्मा को जानो'—यहाँ ज्ञेय और ज्ञाता ये दो अलग-अलग बताये हैं। **"तत्र प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्माशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयम्।"** मुमुक्षु होने से जीव ज्ञाता है और परिशेष से—अवशिष्ट होने से आत्मशब्दवाच्य ब्रह्म है।

२१. स्थित्यदनाभ्याञ्च ।—१।३।७

स्थिति और अदन (भोग) से भी दोनों भिन्न हैं। परमात्मधर्म स्थिति तथा जीवात्मधर्म भोग से भी यह निश्चय होता है कि ये दोनों भिन्न हैं। यहाँ मुण्डक ३।१।१ व ३।१।२ की ओर संकेत किया है। प्रथम सन्दर्भ में कहा गया है कि दो समान चेतन तत्त्व एक प्रकृतिरूप वृक्ष से सम्बद्ध हैं। उनमें से एक प्रकृति का भोक्ता है और दूसरा मात्र साक्षिरूप में अवस्थित है। यहाँ भोक्ता एवं अभोक्तारूप में दोनों का भेद बताकर इनके ज्ञात-ज्ञेय भाव को ३।१।२ में कहा है। 'पश्यति' क्रिया के आधार पर वहाँ भोक्ता जीवात्मा को ज्ञाता तथा उससे भिन्न ईश को ज्ञेय कहा है। २।२।५ में कथित द्यु आदि का आयतन जीवात्मा नहीं हो सकता।

२२. समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च।
—१।३।३०

प्रलय के अनन्तर सर्ग की पुनः आवृत्ति में पूर्वसृष्टि के समान नामरूपात्मक जगत् की रचना होती है। श्रुति और स्मृति दोनों में समान नामरूपवाली पुनरुत्पत्ति को स्वीकार किया है। जगद्रचना जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों के फलोपभोग के लिए होती है। तब वह उसी रूप में होनी चाहिए, जिस रूप में जीवात्माओं ने धर्माधर्म का अनुष्ठान किया है। तदनुसार ही आगे आनेवाली सृष्टियों की

व्यवस्था है।[1]

यदि केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत् अध्यास होने से मिथ्या है तो मिथ्या जगत् की बार-बार उत्पत्ति, और वह भी उसी रूप में, करना परमेश्वर को शोभा नहीं देता। जब जगत् मिथ्या है तो उसकी प्रलय का क्या अर्थ है ? जो पहले ही असत् है, उसके विनाश का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

२३. सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन।—१।३।४२

सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में भेद-कथन से भी जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है।

जीवात्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और उत्क्रान्ति नामक अवस्थाओं में पहली दो अवस्थाएँ ऐसी हैं, जिनमें जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। इन अवस्थाओं में जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःख आदि वैषयिक भोगों को अनुभव करते देखा जाता है, किन्तु ब्रह्म कभी देहादि बन्धन में आकर सुख-दुःख आदि का भोग नहीं करता। जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था ऐसी है जहाँ जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का कथन किया जाता है। सांख्यदर्शन (५।७६) में लिखा है—**'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'** समाधि, सुषुप्ति और मोक्षावस्था में ब्रह्मरूपता हो जाती है। छान्दोग्य (६।८।१) के अनुसार सुषुप्ति दशा में जीवात्मा का ब्रह्म से मेल हो जाता है—**'सता तदा संपन्नो भवति।'** माण्डूक्य ११ में सुषुप्ति अवस्था को **'प्राज्ञ'** स्वरूप माना है। **'प्राज्ञ'** पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए सुषुप्ति में जीवात्मा की ब्रह्म के साथ एकता प्रतीत होती है।

इस सन्दर्भ में बृहदारण्यकोपनिषद् का यह सन्दर्भ द्रष्टव्य है—

---

१. **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।**
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥—ऋ० १०।१९०।३
यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुंक्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥—मनु० १।२८
तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपाद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥—महा० १२।२३२।१६
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥—तु० महा० १२।२३२।२५
यथर्त्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥—वही, २६,४०

"तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् ।" यह सन्दर्भ उपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था के वर्णन का है। इसमें **'पुरुष'** पद जीवात्मा तथा **'प्राज्ञ'** पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अभी ऊपर माण्डूक्य उपनिषद् के आधार पर सुषुप्ति अवस्था को प्राज्ञस्वरूप कहा गया है। बृहद्० के प्रस्तुत सन्दर्भ में बताया है कि जैसे अनुकूल भार्या से सम्बद्ध कोई पुरुष उस अवसर पर बाह्य आन्तर का अन्य कोई ज्ञान नहीं रखता, ऐसे ही यह पुरुष (जीवात्मा) सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) से सम्बद्ध हुआ (**संपरिष्वक्तः**) किसी अन्य बाह्य एवं आन्तर विषय को नहीं जानता। यहाँ शारीर आत्मा (जीवात्मा) का प्राज्ञ—परब्रह्म से स्पष्टरूप में भेद कथन है। अन्यथा इनके सम्बन्ध (**संपरिष्वजन**) का निर्देश नहीं हो सकता था। बाह्य और आन्तर का न जानना जीवात्मा की उस अवस्था में पृथक् स्थिति का द्योतक है। सांख्य के सन्दर्भ में ब्रह्मरूपता का अभिप्राय ब्रह्मानन्द का अनुभव करना है। शरीर को छोड़कर परलोक जाने की स्थिति का नाम उत्क्रान्ति है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।३५) में शारीर आत्मा जीवात्मा है और प्राज्ञ परब्रह्म परमात्मा। शरीर को छोड़कर जानेवाला जीवात्मा कर्मफलप्रदाता विश्व के अधिष्ठाता ब्रह्म से भिन्न है। जैसे सुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति अवस्थाओं में ब्रह्म से जीवात्मा का भेद है, ऐसे ही अन्य सब अवस्थाओं में दोनों का भेद निश्चित है। शंकर ने भी इस सूत्र का अर्थ इसी प्रकार किया है।

२४. **पत्यादिशब्देभ्यः**।—१।३।४३

शास्त्रों में ब्रह्म के लिए अनेकत्र 'पति' और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होने से जीव-ब्रह्म के भेद का निश्चय होता है। यदि ब्रह्म तथा जीव में अभेद होता तो ब्रह्म के समान जीवात्मा के लिए भी जगत्पति, भूताधिपति, प्रजापति, सर्वेश्वर, सर्वेशान जैसे विशेषणों का प्रयोग होता।[1] ऐसा प्रयोग कहीं न देखे जाने से स्पष्ट है कि जीव

१. **स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः**।—बृ० ५।२।१५
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा।—कठ० २।२।१२
सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति।—बृ० ५।६।१
एष सर्वेश्वरः भूतानामधिपतिरेष भूतपालः।—बृ० ४।४।२२
प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।—यजु० ३१।१९

और ब्रह्म में तात्त्विक भेद है।

२५. आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च।—१।४।१

यदि यह कहा जाए कि कतिपय शास्त्र-प्रवक्ताओं ने अनुमान-बोधित तत्त्व को ब्रह्म के समान जगत् का कारण माना है, तो यह कहना ठीक न होगा। कारण यह है कि शास्त्र ऐसे प्रसंग में ब्रह्म के शरीरदृष्टान्त से कथन किये गये तत्त्व का ग्रहण करता है, और उसी का प्रतिपादन करता है।

यहाँ **'अनुमान'** का अर्थ तर्क, युक्ति अथवा केवल प्रतिज्ञा आदि पंचावयव वाक्यसमूह अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि अध्यात्मशास्त्र में जहाँ उस तत्त्व का प्रतिपादन है, वहाँ पंचावयव आदि का कोई निर्देश व सम्पर्क नहीं, पर प्रस्तुत सूत्र का विवेचनीय लक्ष्यप्रदेश शास्त्र का वही सन्दर्भ है; इसलिए 'अनुमान' पद का यहाँ अर्थ है—ऋषियों द्वारा किया गया स्मरण अथवा मनन। उपनिषद्प्रवक्ता ऋषियों ने मुण्डक उपनिषद् (२।१।१) में उस तत्त्व का वर्णन इस प्रकार किया है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

इस सन्दर्भ में 'अक्षर' पद प्रकृतिवाचक है जो जगत् का उपादान-कारण है। विश्वरचना से सम्बन्धित दूसरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥

—मुण्डक० १।१।७

अद्वैत वेदान्त में इस सन्दर्भ के आधार पर ब्रह्म को अभिन्न-निमित्तोपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। वस्तुतः जगद्रचना में परमेश्वर निमित्तकारण है तथा प्रकृति उपादानकारण।

इन दोनों सन्दर्भों की विस्तृत व्याख्या 'उपनिषद्' भाग में हो चुकी है।

२६. तदधीनत्वादर्थवत्।—१।४।३

ब्रह्म के अधीन होने से प्रधान कार्यरूप में परिणत होता तथा प्रयोजन के लिए समर्थ होता है। जीवात्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रकृति जगद्रूप में परिणत होती है। इस प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए प्रकृति का स्वतः अथवा स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त

होकर परिणत होना सम्भव नहीं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने इस तथ्य को जाना और शास्त्रों में व्यक्त किया कि चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ में प्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं। जगत्सर्ग के लिए प्रकृति को प्रेरित करनेवाला चेतन तत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म के अधीन रहकर ही प्रकृति जगद्रूप में परिणत होकर जीवात्माओं के भोग-अपवर्ग की सिद्धि-रूप प्रयोजन को पूरा करने में समर्थ होती है। यदि कहीं प्रकृति की स्वतन्त्रता का उल्लेख मिलता है तो उसका इतना ही अभिप्राय है कि जगत् की उपादानकारणता में प्रकृति के साथ किसी की साझेदारी नहीं है।

२७. **त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च।**— १।४।६

और इस प्रकार यहाँ (कठोपनिषद् में) तीन का ही वर्णन है और प्रश्न इसी के अनुसार संगत होता है।

इस सूत्र का सम्बन्ध कठोपनिषद् के अन्तर्गत यम-नचिकेता-संवाद से है। यमाचार्य ने नचिकेता को तीन वर माँगने के लिए कहा था। तीसरे वर के रूप में नचिकेता ने माँगा—"जब मनुष्य मर जाता है तो आत्मा के विषय में जिज्ञासा होती है। कोई कहते हैं कि (आत्मा) बना रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता। आपसे शिक्षा पाकर मैं इसका समाधान चाहता हूँ। मेरे लिए यही तीसरा वर प्रदान करें।"[1] इस प्रकार उपनिषद् में वरों के रूप में तीन का उपन्यास—कथन है। मूल प्रश्न में जीवात्मविषयक जिज्ञासा प्रकट की गई थी। परन्तु जब यम ने आत्मा का वर्णन करते हुए कहा कि "इस आत्मविषयक उपदेश को सुनकर तथा धारण कर मनुष्य जब धर्म्य अणु आत्मतत्त्व को प्रकृति से अलग कर प्राप्त कर लेता है, तब वह निश्चित आनन्द देने-वाले तत्त्व को प्राप्त कर आनन्द पाता है; नचिकेता! उसके लिए मैं तुम्हें खुला द्वार मानता हूँ।"[2] **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये'** इत्यादि सन्दर्भ में 'आत्मा' पद पठित नहीं है, पर सन्देह प्रकट करने की रीति से स्पष्ट है वह जिज्ञासा जीवात्मविषयक है। यम इस तथ्य को जानता है कि केवल उतना उपदेश देने से आत्मविषयक शिक्षा पूर्ण नहीं होगी।

---

१. **येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्ट-स्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।**—कठ० १।१।२०

२. **एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥**—कठ० १।२।१३

इसलिए आत्मा का वर्णन प्रारम्भ करते समय नचिकेता को ऐसा अवसर दिया जिससे वह आगे बढ़ सके। नचिकेता ने भी अवसर का लाभ उठाते हुए पूछ लिया—"जो शास्त्रप्रतिपादित तथा शास्त्रविरुद्ध अनुष्ठानों से अलग है, जो कृत-अकृत अर्थात् जगद्रूप कार्य और उसके उपादानकारण से अलग है, तथा जो भूत और भविष्यत् से अलग है, अर्थात् जो सदा एकरूप में वर्त्तमान रहता है, ऐसे तत्त्व का आपने साक्षात्कार किया है, उसकी मुझे शिक्षा दें।"[1] इसके उत्तर में यम ने कहा—"समस्त वेद जिस पद का बार-बार वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण तप जिसके अस्तित्व का कथन करते हैं, जिसकी चाहना से मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ, वह 'ओम्' पदवाच्य ब्रह्म है।"[2] यदि उपनिषत्कार जीव और ब्रह्म को अभिन्न मानता तो ब्रह्मविषयक प्रश्न का अलग से प्रस्तुत किया जाना अनावश्यक था। तीसरे वर में इस प्रश्न के समावेश का रहस्य यही है कि आत्मविषयक जिज्ञासा होने पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वर्णन हो जाना चाहिए। फलतः कठोपनिषद् के इस भाग में विविध प्रकार से इन्हीं दो चेतनतत्त्वों का वर्णन उपलब्ध है।

शंकर ने इस सूत्र की लम्बी व्याख्या करके कई अप्रासंगिक बातें लिखी हैं। जैसे—"**इह चान्यत्र धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपद्यमानं शरीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति।**" अर्थात् जीव न जन्म लेता है, न मरता है—इस जन्म-मरण के प्रतिषेध से जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादित होता है। परन्तु उपनिषद् में तो वहाँ जन्म-मरण के प्रतिषेध से जीव का नित्यत्व बताया है। इसको नित्यत्व के विषय में जीव और ब्रह्म का सादृश्य तो कहा जा सकता है; किन्तु किंचित् सादृश्य के आधार पर उनके अनन्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। "**न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः।**" अर्थात्—प्राज्ञ=परब्रह्म के ज्ञान से ही शोक दूर होता

१. **अन्यत्र धर्मादधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥**—कठ० १।२।१४

२. **सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥**
—कठ० १।२।१५

है, इसलिए प्राज्ञ और जीव में अभेद है। परन्तु 'प्राज्ञ के विज्ञान से शोक दूर होता है' इससे तो जिसके ज्ञान से शोक दूर होता है, उसका शोक करनेवाले से भेद सिद्ध होता है। शोक करनेवाला जीवात्मा है और जिसके विज्ञान से शोक दूर होता है, वह परमात्मा है। **'मत्वा धीरो न शोचति'**—यह माननेवाला धीर ब्रह्म नहीं, किन्तु ब्रह्म से इतर होना चाहिए। इसलिए शंकर की प्रतिपत्ति युक्तिसंगत नहीं।

२७. **चमसवदविशेषात्।**—१।४।८

इस सूत्र का विवेचनीय लक्ष्य—प्रदेश श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह सन्दर्भ है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेत० ४।५

इस सन्दर्भ में जीवात्मा तथा परमात्मा दो अजों का तथा 'अजा' नाम से त्रिगुणात्मक प्रकृति का उल्लेख है जिससे त्रिगुणात्मक विविध जगत् की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा इस प्रकृति का भोग करता है, परमात्मा नहीं। वाक्य के अन्तिम चरण से यहाँ ब्रह्म का साधारण कथन है, उसका विशेष निश्चय अगले वाक्यों से होता है। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या 'उपनिषद्' भाग में हो चुकी है।

२८. **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।**—१।४।२३

प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का बाध न होने से यह निश्चय होता है कि प्रकृति भी जगत्सर्ग का कारण है।

'जन्माद्यस्य यतः' (वे० सू० १।१।२) इस सूत्र के अनुसार ब्रह्म जगत् की उत्पत्त्यादि का कारण है। यहाँ इतना और विचारणीय है कि ब्रह्म प्रकृति-परिणाम द्वारा विश्व की उत्पत्त्यादि का कारण है, अथवा प्रकृति के बिना स्वतः केवल ब्रह्म? यदि प्रकृति-सहयोग के बिना ब्रह्म स्वतः जगद्रूप में प्रकट होता है तो उसमें परिणामत्वादि दोषों की प्राप्ति होगी। इसलिए सूत्रकार शास्त्रीय आधारों पर यह निश्चय करता है कि परब्रह्म प्रकृति-उपादान से इस जगत् का निर्माण करता है। मुण्डक (१।१।६) के अनुसार ब्रह्म जगत् का कारण होता हुआ भी अव्यय—अपरिणामी, सर्वगत—सर्वान्तर्यामी, नित्य एवं अदृश्य—इन्द्रियातीत है। उपादानकारण अव्यय—अपरिणामी नहीं होता तथा कार्यरूप में आने पर वह दृश्य आदि धर्मवाला होता है।

अतः ब्रह्म का उपर्युक्त वर्णन उसे उपादानता से दूर रखकर उससे अतिरिक्त किसी तत्त्व के जगदुपादान होने का बोध कराता है। अतः इस प्रतिज्ञावाक्य से प्रकृति के उपादानकारण होने का निश्चय होता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—"प्रकृति का नाम माया है और उसका नियामक होने से परमेश्वर मायावी कहाता है। ब्रह्म के शरीर-रूप में कल्पित प्रकृति के अवयवों से यह जगत् व्याप्त है, अर्थात् ब्रह्म के द्वारा प्रकृति जगद्रूप में परिणत होती है।"[1] इससे पूर्व कहा है—"इस माया (प्रकृति) से मायी (परमेश्वर) समस्त जगत् की रचना करता है, परन्तु परमेश्वर से भिन्न दूसरा (जीवात्मा) माया (प्रकृति) के द्वारा बन्धन में बाँधा जाता है।"[2] मेरे नियन्त्रण में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।"[3] परमेश्वर से भिन्न प्रकृति को जगत् का उपादानकारण बताते हुए गीता में कहा है—"प्रकृति का आश्रय करके समस्त भूत-समुदाय को प्रकृति-उपादान से मैं बार-बार उत्पन्न करता हूँ।"[4] "प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि पदार्थ हैं।"[5] "महद् ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि है और मैं उसमें गर्भ धारण कराता हूँ। फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। पशु-पक्षी आदि सब योनियों में जो मूर्त्तियाँ जन्म लेती हैं, उनकी योनि प्रकृति है और मैं बीज डालनेवाला पिता हूँ।"[6] अद्वैतपरक समझे जानेवाले इन सन्दर्भों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकारण के रूप

---

१. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥—श्वेत० ४।१०

२. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।-श्वेत० ४।९

३. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।—गीता० ९।१०

४. प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥—गीता ९।८

५. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादि उभावपि।—गीता १३।१९

६. मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥—गीता १४।३-४

गीता से उद्धृत श्लोकों की विशद व्याख्या 'गीता' भाग में की गई है।

में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। पिता के रूप में बीज डालनेवाला ब्रह्म निमित्तकारण है और जिसमें वह बीज डालता अथवा गर्भ धारण कराता है, उसके रूप में प्रकृति उपादानकारण है। यहाँ यह भी सर्वथा स्पष्ट है कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों अनादि होने के कारण ब्रह्म का परिणाम या विकार न होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। इसलिए परमेश्वर द्वारा जगत्सर्ग का तात्पर्य प्रकृति को प्रेरणा द्वारा नाम-रूप देना है। इन प्रतिज्ञारूप वाक्यों से प्रकृति के उपादानकारण होने का बोध होता है। आगे मुण्डक उपनिषद् (१।१।७) में दृष्टान्त उपस्थित किया है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

जैसे मकड़ी तन्तुजाल को बनाती और यथासमय समेट लेती है, जैसे ओषधियाँ पृथिवी से आविर्भूत होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश-लोम प्रकट होते हैं, वैसे ही अक्षर से यह जगत् प्रादुर्भूत होता है। इस सन्दर्भ में दृष्टान्त द्वारा जगत् के उपादान और निमित्तकारणों को बहुत स्पष्ट रीति पर बताया गया है। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या 'उपनिषद्' भाग में की जा चुकी है।

निमित्तकारण स्वयं अविकारी रहते हुए उपादानकारण में विकृति उत्पन्न करके रचना करता है। अविकारी निमित्त तथा विकारी उपादान एक नहीं हो सकते। निमित्त तथा उपादान का एक होना लोक में कहीं नहीं देखा जाता। बढ़ई को स्वयं मेज़ बनते या जुलाहे को स्वयं वस्त्र बनते कभी नहीं देखा जाता। लकड़ी और सूत के सहयोग से ही बढ़ई या जुलाहा मेज़ या वस्त्र बना सकते हैं। तब, ब्रह्म इसका अपवाद कैसे हो सकता है? वस्तुतः न कोई निरवयव तत्त्व परिणामी हो सकता है और न अपरिणामी तत्त्व किसी का उपादान हो सकता है। इस कारण परिणामिनी प्रकृति ही जगत् का उपादान हो सकती है।

कठोपनिषद् (२।२।८) में बताया—**"य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन, एतद्वै तत्।"** **'य सुप्तेषु जागर्ति··· एतद्वै तत्'**—सर्ग से पूर्व केवल ब्रह्म जागता रहता है। वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूप में परिणत करता है और जीवात्मा

देहादि के साथ सचेष्ट होने लगते हैं। अन्तिम पदों में कहा—**'एतद्वै तत्'** यह वह ब्रह्म है जिसको बताने की प्रतिज्ञा उपनिषत्कार ने २।२।६ में की थी—**'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्'**। 'जो सोते हुओं में जागता है' (**य एष सुप्तेषु जागर्ति**) इस वाक्य से स्पष्ट है कि जागनेवाला (ब्रह्म) सोये हुओं (जीवात्मा व प्रकृति) से अतिरिक्त तत्त्व है। यदि प्रकृति के अस्तित्व को न माना जाए तो इस प्रतिज्ञा-वाक्य की अनुकूलता नहीं रहती। सुप्तावस्था में भले ही हो, किन्तु थी अवश्य।[1] न होती तो कहाँ से आ जाती—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २।१६) अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं होता। इस विषय में आगे (२।२।६) दृष्टान्त उपस्थित किया है—"जैसे एक अग्नि संसार में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक वस्तु के पूरे आकार के अनुसार उसमें व्याप्त रहता है, इसी प्रकार एक परमात्मा समस्त विश्व में अन्तर्यामि-रूप से व्याप्त रहता हुआ प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर विद्यमान है।"[1] यहाँ अग्नि के दृष्टान्त से ब्रह्म की स्थिति को स्पष्ट किया है। प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर परब्रह्म की विद्यमानता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि वह उन पदार्थों का उपादानकारण नहीं है। किसी भी पदार्थ के उपादान तत्त्व उसके बाहर नहीं रहते। अतः अन्दर-बाहर सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म से भिन्न तत्त्व ही जगत् का उपादानकारण होना चाहिए। यदि प्रकृति को उपादानकारण न मानकर केवल ब्रह्म को सब प्रकार का कारण (निमित्त व उपादान) माना जाएगा तो इस दृष्टान्त की बाधा हो जाएगी। अतः यह दृष्टान्त इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्त्यादि का केवल निमित्तकारण है, उपादानकारण केवल प्रकृति है।

---

1. The Old Testament teaches creation out of nothing. Plato and Aristotle assume primitive matter to which God gives form. God is an artificer or architect, rather than a creator, for primitive substance is thought of as eternal and uncreated and only form is due to the will of God. For Christian thinkers, God creates not from any pre-existent matter, but out of nothing.—Radhakrishnan : Gita, 7.5

१. **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

३०. अभिध्योपदेशाच्च ।—१।४।२४

ब्रह्म-संकल्प के कथन से भी निश्चय होता है कि जगत् का उपादान प्रकृति है। तैत्तिरीय (२।६) में कहा—**'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'** उसने कामना की, मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। छान्दोग्य (६।३।२) में कहा—**"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता ··नामरूपे करवाणि"** उस महती देवता ने ईक्षण किया कि इन तीन देवताओं (प्रकृतिरूप सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिगुणों) को नामरूप से विस्तृत करूँ। यह अभिध्यान जिस प्रकार अभिध्याता की अपेक्षा करता है, वैसे ही अभिध्यातव्य की भी। यदि संकल्प का कोई कर्त्ता होना चाहिए तो ऐसे संकल्प का कोई विषय भी होना चाहिए। एक ही तत्त्व कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। ब्रह्म स्वयं उस संकल्प का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में उसे स्वयं जगद्रूप में परिणत हुआ मानना पड़ेगा। इससे उसके स्वरूप की हानि होगी। वह विकारी हो जाएगा। इसलिए उसके संकल्प का विषय प्रकृति है। ईक्षिता द्वारा प्रेरित वह प्रकृति ही बहुरूप हो जाती है। इस प्रसंग में सर्वत्र 'असृजत' क्रियापद का प्रयोग हुआ है। यदि स्वयं ब्रह्म जगत् का उपादान होता तो 'असृजत' के स्थान पर 'अभवत्' क्रियापद का प्रयोग होना चाहिए था।

३१. साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।—१।४।२५

अध्यात्मशास्त्रों में साक्षात् दोनों कारणों का पृथक् कथन होने से भी निश्चित होता है कि निमित्तकारण ब्रह्म के साथ प्रकृति जगत् का उपादानकारण है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१०) में कहा—**"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।"** अर्थात् प्रधान (प्रकृति) परिणामी तत्त्व है, परमात्मा अपरिणामी अविनाशी तत्त्व है; यह एकमात्र देव परब्रह्म परमात्मा परिणामी प्रधान तथा जीवात्माओं का शासन—नियन्त्रण करता है। यहाँ प्रधान और परमात्मा दोनों का पृथक् कथन करते हुए परमात्मा को नियन्ता एवं प्रधान को नियम्य बताया है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र (४।१०) कहा—**"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।"** प्रकृति का अपर नाम माया है, और उसका नियामक होने से मायी—महेश्वर ब्रह्म है। यहाँ प्रकृति और ब्रह्म दोनों का एकत्र किन्तु पृथक्-पृथक् तत्त्वों के रूप में वर्णन है। इसी

प्रकार आगे (श्वेत० ६।१०) कहा—**"यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्"** वह एकमात्र देव मकड़ी के समान प्रधानज तन्तुओं से अनायास जगत् को बनाता और उनमें छिपकर बैठा है। यहाँ एक देव (ब्रह्म) और प्रधान दोनों का जगत्कारण में उल्लेख है। आगे फिर कहा—**"एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति"** (श्वेत० ६।१२) सबका एकमात्र नियन्ता ब्रह्म है जो अचेतन अनन्त संसार के 'सत्त्व-रजस्-तमस्' रूप में विद्यमान बीज-उपादान को विविधरूप बना देता है। यहाँ नियन्ता एक ब्रह्म और नियम्य उपादान-तत्त्व दोनों का स्पष्ट निर्देश है।

वेदों में भी इस अर्थ का अनेकत्र प्रतिपादन हुआ है। ऋग्वेद (१०।१२९।२) में स्वधा (प्रकृति) के साथ एक ब्रह्म की स्थिति का निर्देश है—**"आनीदवातं स्वधया तदेकम्।"** यजुर्वेद (४०।८) में कहा—**"स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"** उस स्वयम्भू परब्रह्म ने निरन्तर बने रहनेवाले=नित्य तत्त्वों से (**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**) यथायथ समस्त अर्थों का निर्माण किया। यहाँ जगत् के निर्माता परमेश्वर और सनातन उपादान तत्त्वों का पृथक् निर्देश है। ऋग्वेद (६।४७।१८) में कहा—**"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"**—इन्द्र—ऐश्वर्यशाली ब्रह्म माया—प्रकृतिरूप उपादान-तत्त्वों से इस अनेकरूप जगत् की रचना करता है। यहाँ वहुवचनान्त 'माया' पद से प्रकृतिरूप 'सत्त्व-रजस्-तमस्' अभिप्रेत हैं। इस प्रकार यहाँ निर्माता और निर्माणसामग्री दोनों का पृथक् स्पष्ट निर्देश है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'उभय' पद से 'सर्ग' और 'प्रलय' का ग्रहण कर छान्दोग्य (१।९।१) के आधार पर 'जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादानकारण होता है' ऐसा मानकर ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण सिद्ध करने का प्रयास किया है और उदाहरण देकर बताया है **'यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी'** जैसे यवादि की उत्पत्ति में पृथिवी उपादान है। परन्तु एक बालक भी जानता है कि यवादि की उत्पत्ति में उपादान तो उनके बीज होते हैं; पृथिवी आदि तत्त्व तो उनकी वृद्धि में सहायक होकर उनके प्रादुर्भाव में साधारण कारणमात्र हैं। यदि बीजों के बिना पौधे उत्पन्न हो सकें तो पृथिवी के सर्वत्र समान होने से सब जगह सब-कुछ स्वतः उत्पन्न हो जाया करे परन्तु ऐसा नहीं

देखा जाता। बीजों के अनुरूप ही पौधे उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जगत् का ब्रह्म से उत्पन्न होना और ब्रह्म में लीन होना उसे सबका आधार व आश्रय प्रकट करता है, क्योंकि चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना जगत् का सर्ग या प्रलय होना सम्भव नहीं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे जगत् का उपादानकारण माना जाए। फिर, शंकर का सूत्र के 'उभय' पद से केवल सर्ग-प्रलय का ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि ब्रह्म जगत् की 'उत्पत्ति-प्रलय' के साथ-साथ उसकी 'स्थिति' का भी कारण है, जैसाकि तैत्तिरीय (३।१) के इस सन्दर्भ से स्पष्ट है—**"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, 'येन जातानि जीवन्ति' यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"** यहाँ ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तीनों का कारण बताया है।

३२. आत्मकृतेः परिणामात्।—१।४।२६

परब्रह्म परमात्मा के संकल्परूप प्रयत्न से परिणाम के द्वारा जगत्सर्ग होता है, अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त तथा प्रकृति उपादान-कारण है।

तैत्तिरीय उपनिषद् (२।६) में बताया—**"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।"** उसने संकल्प किया—बहुत होऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। उसने तप किया। उसने तप तपकर इस सबका सर्जन किया। परब्रह्म का सर्ग-विषयक संकल्प ही प्रयत्न है। सर्ग के लिए प्रकृति का पर्यालोचन उसका तप है। कौन-से तत्त्व किस प्रक्रिया के अनुसार किस रूप में परिणत होते हैं, यह सब यथार्थ व्यवस्था ब्रह्म द्वारा की जाती है, इस सबको उसका तप कहा है। इस प्रकार ब्रह्म प्रकृति-उपादान द्वारा जगत् की रचना करता और उसमें अन्तर्यामिरूप से व्याप्त रहता है—**"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तै० २।६)। सर्ग से पूर्व यह कार्य-जगत् अपने वर्त्तमान रूप में नहीं था। प्रलयकाल में वह कारणरूप में अवस्थित था। बृहद्० (१।४।७) में कहा है—**"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत-मासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।"** जगत्सर्ग से पहले यह **'अव्याकृत'** था, जगत्सर्ग के समय वह **'व्याकृत'** किया गया। कारणा-वस्था से कार्यावस्था में आने पर वह नाम-रूपवाला हो गया। ऐतरेय उपनिषद् (१।२) में बताया—**'स इमांल्लोकानसृजत।' 'असृजत', 'व्याकरोत्' 'व्याकृतम्'** शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि ब्रह्म सृष्टि का

निमित्तकारण है। यदि उपादान के रूप में ब्रह्म ही जगद्रूप में परिणत हुआ होता तो इन क्रियापदों के स्थान पर **'अभवत्'** शब्द का प्रयोग किया गया होता। वस्तुतः कोई निरवयव तत्त्व किसी कार्य का उपादान नहीं हो सकता।

२३. योनिश्च हि गीयते।—१।४।२७

अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म के जगत् की योनि कहे जाने से स्पष्ट है कि वह निमित्तकारण है।

अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म को जगत् की योनि कहा है—**'यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'** (मु० १।१।६); **'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'** (मु० ३।१।३) इन प्रसंगों में ब्रह्म को जगत् की योनि—आधार अथवा आश्रय कहा है। किन्तु आचार्य शंकर ने यहाँ, **'योनि'** पद को उपादानपरक मानकर ब्रह्म को जगत् का उपादान सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है—**'एवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्'** (शा० भा० १।४।२७)। वस्तुतः **'योनि'** पद कारणमात्र का वाचक है, केवल उपादानकारण का नहीं। लोक में प्रसिद्ध **'स्त्रीयोनि'** शब्द स्थान-विशेष का वाचक है—**"क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि'–योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनामिति'।"** (शा०भा० १।४।२७)। सब जानते हैं कि स्त्रीयोनि किसी देह का उपादानकारण नहीं, अपितु देह के गर्भाशय से बाहर आने का मार्ग है। उसके उपादानकारण तो माता-पिता के रजवीर्य और तदनन्तर शरीर की वृद्धि में सहायक तत्त्व हैं। पृथिवी को ओषधि-वनस्पतियों की योनि कहा जाता है किन्तु वास्तव में पृथिवी उनके प्रादुर्भाव का आधारमात्र है। ओषधि आदि के बीज ही उनके उपादान हैं। पृथिवी आदि तत्त्व उनके प्रादुर्भाव व वृद्धि में सहायकमात्र हैं। एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न पौधों के उत्पन्न होने का कारण यही है कि उनके उपादान बीज भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए **'भूतयोनि'** आदि शब्दों से ब्रह्म का जगदुत्पत्ति में उपादान-कारण होना सिद्ध नहीं होता। **'योनि'** पद के सन्दर्भ में आगे गीता से उद्धृत श्लोकों (१४।३-४) का विवेचन द्रष्टव्य है।

यदि आपाततः **'योनि'** पद का कहीं उपादानकारण के रूप में प्रयोग हुआ प्रतीत हो, तो उतने मात्र से **'भूतयोनि' 'ब्रह्मयोनि'** आदि पदों के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहना सर्वथा

असंगत होगा। यह केवल औपचारिक कथन माना जाना चाहिए, क्योंकि न लोक में किसी चेतनतत्त्व को किसी जड़तत्त्व का उपादान देखा जाता है, और न कहीं शास्त्र में इसका उपपादन उपलब्ध है।

३४. **न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्।**—२।१।४

विलक्षण होने से प्रकृति को जगत् का उपादानकारण नहीं माना जाना चाहिए। ब्रह्म के जगत् का उपादानकारण होने का निषेध इस तर्क के आधार पर किया गया कि कोई भी कार्य अपने उपादानकारण के समान होता है, उन दोनों के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। ब्रह्म चेतन है, जगत् जड़ है; ब्रह्म शुद्ध है, जगत् अशुद्ध है। जगत् सुख-दुःख और मोह से समन्वित त्रिगुणात्मक है।[1] इसलिए इसका उपादानकारण त्रिगुणात्मक तत्त्व होना चाहिए। ब्रह्म त्रिगुणातीत है, वह इसका उपादान नहीं हो सकता।

'कारणगुणपूर्वको कार्यगुणो दृष्टः' सिद्धान्तरूप से इसे स्वीकार करते हुए आपत्तिकर्त्ता कहता है कि जगत् भी ब्रह्म के समान चेतन है, जड़ नहीं—इसलिए यह चेतन ब्रह्म का विकार माना जाना चाहिए। यदि जगत् का उपादानकारण प्रकृति है तो प्रकृति का स्वरूप जो जड़ता व त्रिगुणात्मकता हैं, उनका परित्याग पृथिवी आदि कार्यों में नहीं होना चाहिए। परन्तु पृथिवी आदि में जड़ता से विलक्षण चेतन-धर्म की प्रतीति शब्दप्रमाण से जानी जाती है। प्रकृति की जड़ता निर्विवाद है। यदि पृथिवी आदि जगत् का उपादान प्रकृति होता तो पृथिवी आदि में चेतनधर्म का अभिलापन न किया जाता। पर शास्त्र में ऐसा उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा—**'मृदब्रवीत्'** मिट्टी बोली (६।१।३।४); **'आपोऽब्रुवन्'** जल बोले (६।१।३।२)। इसी प्रकार छान्दोग्य (६।२।३-४) में कहा—**'तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त'** उस तेज ने ईक्षण किया, उन जलों ने ईक्षण किया। ऐसे ही बृहदारण्यक (१।३।२) में आता है—**'ते वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुद्गायत्'** देवों ने वाक् को कहा—तू हमारे लिए उद्गान कर। वाक् ने कहा, ऐसा हो, तब वाक् ने देवों के लिए उद्गान किया। 'बोलना' आदि धर्म पृथिवी आदि के चेतन माने जाने पर सम्भव हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पृथिवी आदि के ये धर्म प्रकृति से विलक्षण

१. **न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।**
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥—गीता १८।४०

हैं, अतः पृथिवी आदि के उपादान के रूप में ब्रह्मप्रेरित जड़ प्रकृति को नहीं माना जाना चाहिए।

इस आपत्ति का समाधान अगले सूत्र में किया है—

३५. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्।—२।१।५

उक्त कथन आलंकारिक है, क्योंकि दोनों का भेद तथा ब्रह्म का अन्तर्यामिरूप से वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है।

'मृदब्रवीत्' आदि कथन केवल आलंकारिक रूप में किया गया है, वास्तविक नहीं। अर्थ में चमत्कार लाने के लिए कवि लोग ऐसे प्रयोग करते आये हैं। आज भी 'धरती बोलती है', 'वृक्ष मंगलगान करते हैं' जैसे प्रयोग उक्त भावना से किये जाते हैं। इन पदों का सीधा अभिधेयार्थ इनसे अभिप्रेत नहीं होता। लक्षणा, व्यंजना, उत्प्रेक्षा आदि से समन्वित इन वाक्यों के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि पृथिवी, जल आदि चेतन तत्त्व हैं और इस रूप में प्रकृति से विलक्षण होने के कारण वे उसके कार्य नहीं हैं।

तैत्तिरीय (२।६) के अनुसार **'विज्ञानं चाविज्ञानञ्च'**—चेतन तत्त्व अन्य है और अचेतन अन्य। विश्व में दो प्रकार के तत्त्व हैं—नित्य और विकारी, व्यक्त और अव्यक्त, आश्रय और आश्रित, चेतन और अचेतन, सत्य और अनृत। यह वर्णन चेतन ब्रह्म से अचेतन प्रकृति एवं पृथिव्यादि प्राकृत तत्त्वों को भिन्न करता है। इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि में ब्रह्म की **अनुगति—अनुप्रवेश (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**—तै० २।६) अर्थात् अन्तर्यामिरूप से विद्यमान होने का वर्णन (बृ० ३।७।३-१६) स्पष्ट करता है कि ब्रह्म पृथिवी आदि समस्त विश्व का नियन्ता है। इनका नियन्ता तथा नियम्य भाव नियन्ता की चेतनता तथा नियम्य की अचेतनता को स्पष्ट करता है। इसलिए पृथिव्यादि के बोलने आदि का वर्णन केवल कल्पनामूलक है, वास्तविक नहीं।

३६. दृश्यते तु।—२।१।६

और यह देखा जाता है।

'तु' का प्रायः किन्तु अर्थ में प्रयोग होता है। परन्तु सदा ऐसा ही नहीं होता। कभी-कभी यह 'अब' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे—**'एकदा तु प्रतिहारी समुत्सृज्याब्रवीत्'**; कभी-कभी इसका अर्थ **'और'**

भी होता है।[1] वेद में तथा लोक में भी इस प्रकार के कथन देखे जा सकते हैं। लोक में प्रयोग होनेवाले प्रसिद्ध वाक्य हैं–**'कूलं पिपितिषति, वृष्टिराजिगमषति'** किनारा गिरना ही चाहता है (गिरनेवाला है), वर्षा आना ही चाहती है (आनेवाली है)। जड़ किनारा या वर्षा में इच्छार्थक प्रयोग हो रहा है, जो केवल चेतन का धर्म है। इसी प्रकार शास्त्र में नदियों का मनुष्यों से संवाद[2], नदी-पर्वत अथवा समुद्र आदि जड़ पदार्थों का चेतन के समान वार्तालाप[3] और पशु-पक्षियों का मनुष्यों के समान शास्त्रीय आधार पर तर्क-वितर्क[4] का वर्णन पाया जाता है। यह सब कल्पित अथवा आलंकारिक वर्णन है। ऐसा ही **'मृदब्रवीत्'** इत्यादि वाक्यों में समझना चाहिए।

शंकराचार्य ने इन सूत्रों के आधार पर चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्हीं तत्त्वों के प्रकृति-विकारभाव में सारूप्य का होना आवश्यक है। ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर इनकी (ब्रह्म और जगत् की) विलक्षणता को दूर करने और सारूप्य दिखाने के लिए आचार्य ने सम्पूर्ण जगत् को अपने समान चेतन घोषित कर दिया। पर उनका यह कथन उनके अपने ही मन्तव्य के प्रतिकूल है। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि चेतन ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है तो जगत् की सत्ता को भी ब्रह्म के समान वास्तविक मानना होगा—विशेषतः जबकि शंकर कार्य का कारण से अनन्यत्व मानते हैं। परन्तु वह तो जगत् की सत्ता को व्यावहारिक मानते हैं। इस प्रसंग में आचार्य ने जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनसे ब्रह्म की जगदुपादनता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वस्तुतः अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए प्रत्यक्षतः जड़ जगत् को चेतन बताना उनका दुस्साहस या दुराग्रह ही कहा जाएगा।

२७. अधिकं तु भेदनिर्देशात्।—२।१।२२

१. कादम्बरी ८।१२, वा० शि० आप्टे : संस्कृत डिक्शनरी
२. देखें—निरुक्त २।२५-२७ के आधार पर ऋग्वेद ३।३३।५-१२
३. समुद्र और सरिताओं का संवाद, महाभारत, १२।११३।१-१४ गोरखपुर संस्करण
४. तिर्यक् तथा व्यक्तवाक् प्राणियों का संवाद (ऋग्वेद १०।५१; १०८; १२५; १५१)। समस्त पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि कथा-साहित्य इसका उदाहरण है।

परन्तु भेद का निर्देश होने से (जीवात्मा से ब्रह्म) अधिक या पृथक् है।

भोक्ता जीवात्मा अलग तत्त्व है और जगत्स्रष्टा ब्रह्म अलग। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न चेतन तत्त्व है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वान्तर्यामी चेतन तत्त्व है। ये दोनों कभी एक नहीं, इनका भेद वास्तविक है, आपातिक नहीं। शास्त्र में अनेक प्रकार से इनके भेद का वर्णन किया है। ऋग्वेद (१।१६४।२०) में बताया—**'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'** इनमें एक (जीवात्मा) संसार के फलों का उपभोग करता है, जबकि दूसरा (परमात्मा) न भोगता हुआ सदा प्रकाशित रहता है। इसी के अनुसार मुण्डक (३।१।२) में कहा—**'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः'** ब्रह्म अन्तर्यामिरूप से प्रकृति में व्याप्त है, उसी प्रकृति से यह पुरुष—जीवात्मा देहादि प्राप्त कर हृदयदेश में निवास करता है। यह अनीश—अल्पशक्ति होने से मोह—अज्ञान से आवृत हुआ दुःखी होता है। जब अपने से भिन्न (अन्य) ऐश्वर्यशाली ईश को देखकर उसकी महिमा को जान लेता है, तब शोकरहित हो जाता है। श्वेत० १।६ में जीवात्मा और प्रकृति के प्रेरिता परमात्मा को स्पष्ट रूप से पृथक् कहा है—**'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति'** जीवात्मा अपने-आपको और प्रेरिता परमात्मा को पृथक् समझकर उसका साक्षात् कर उसके सम्पर्क में आता है, तो अमृत—मोक्ष को पा लेता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण (३।७।२२) में जीवात्मा से भिन्न ब्रह्म का स्पष्ट उल्लेख है—**'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः'** जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा से भिन्न है। ऐसे शतशः प्रमाणों से जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट होता है। संसार में भोक्तारूप से उपस्थित केवल जीवात्मा है। ब्रह्म उससे सर्वथा भिन्न है जो सृष्टिकर्त्ता है। **'अनेन जीवेनात्मना-ऽनुप्रविश्य'** (छा० ६।३।२)—यहाँ **'अनेन जीवेनात्मना'** इन पदों से स्पष्ट है कि जीवात्मा ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व है जिसकी ओर वह **'अनेन'** कहकर संकेत कर रहा है।

शंकर ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा—**'यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः**

स्रष्टृ ब्रूमः' जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है वह नित्य, शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव होने से जीव से अधिक—अन्य है। उसी को हम सृष्टि का रचयिता कहते हैं। शंकर के इस कथन से जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद स्पष्ट है।

तत्पश्चात् पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं आपत्ति उठाते हैं—**'नन्वभेद-निर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवं जातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्।'** 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में अभेद भी तो बताया है। भेद और अभेद दोनों में कैसे सामंजस्य होगा? शंकर स्वयं समाधान करते हैं—**'नैष दोषः। (१) आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। (२) अपिच यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणस्य च स्रष्टृत्वं, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्।'** यह दोष नहीं। क्योंकि (१) जैसे आकाश और घटाकाश दोनों में भेद-अभेद दोनों ठीक हैं, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिए। (२) दूसरे, जब 'तत्त्वमसि' आदि निर्देश से अभेद की जागृति हो जाएगी तो न जीव का संसारीपन रहेगा और न ब्रह्म का स्रष्टापन। यह सब भेद तो मिथ्याज्ञान के कारण है। सम्यग्ज्ञान होने पर वह जाता रहेगा।

वस्तुतः **'तत्त्वमसि'** यह वाक्य जीव और ब्रह्म का अभेद नहीं बताता। **'तत्'** पद जीवात्मा का परामर्शक है, ब्रह्म का नहीं। इसलिए **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** वाक्य का अर्थ है--तू वह अर्थात् आत्मा है, शरीर नहीं। इस वाक्य की विस्तृत तथा युक्तियुक्त व्याख्या हमने 'उपनिषद्' भाग में की है। सूत्र में इस बात की गन्ध तक नहीं कि यह भेद मिथ्याज्ञान के कारण है। आकाश और घटाकाश तो एक ही है और एक लक्षणवाले हैं, परन्तु जीव और ब्रह्म में भेद शंकर स्वयं बता चुके हैं, अतः यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। किसी का मिथ्या ज्ञान दूर होने पर उसकी मुक्ति हो जाने से समस्त जीवों की मुक्ति तो नहीं हो जाएगी। शेष असंख्य जीवों के लिए तो संसार बना ही रहेगा। तब ईश्वर का स्रष्टृत्व कैसे समाप्त हो जाएगा?

३८. अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः।—२।१।२३

(सत्ता सामान्यधर्म होने से) पत्थर, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा आदि

एकरूप या ब्रह्मरूप नहीं हैं, वैसे ही चैतन्य समानधर्म होने से जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं।

विभिन्न पदार्थों में आंशिक समानता होने से उन पदार्थों को एक नहीं माना जा सकता। नमक और चीनी दोनों के सफ़ेद होने के आधार पर चीनी से नमक का या नमक से चीनी का काम नहीं लिया जा सकता। मात्र पृथिवी से उत्पन्न होने अथवा पार्थिव धर्म समान होने से पत्थर, कोयले, हीरे, वनस्पति आदि को एक नहीं माना जाता। हरेक पत्थर हीरा नहीं बन सकता। इसी प्रकार चैतन्य समान-धर्म होने पर भी जीवात्मा का ब्रह्मरूप होना अनुपपन्न है। यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा दोनों 'ज्ञ' हैं, पर एक के साथ 'अल्प' और दूसरे के साथ 'सर्व' सदा लगा रहता है। जीवात्मा कितना भी प्रयत्न करे, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वान्तिर्यामी, सृष्टिकर्त्ता कभी नहीं बन सकता।

यह कहा जा सकता है कि शास्त्रों में जीवात्मा और परमात्मा में तादात्म्य होने के संकेत मिलते हैं। ईशोपनिषद् १६ में कहा—**'योऽसा-वसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'** जो वह पुरुष है, वह मैं हूँ। इसी प्रकार छान्दोग्य (६।८।७) में बताया— **'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !'** वह आत्मा तुम हो। पर, इन प्रसंगों पर गम्भीरता से विचार किया जाए, तो इन सन्दर्भों में जीवात्मा तथा परमात्मा में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रत्याख्यान मिलेगा। पहला वाक्य प्रार्थनारूप है—प्रार्थयिता जीवात्मा है और प्रार्थ्य परमात्मा। दोनों एक नहीं हो सकते। द्वितीय सन्दर्भ में श्वेतकेतु को समझाया गया है कि तू जीवात्मतत्त्व है, शरीर नहीं। इस वाक्य का स्पष्टीकरण अभी गत सूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत किया गया है।

३६. कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा।—२।१।२६

यह कहा जाता है कि 'ब्रह्मसंकल्प से प्रकृति जगद्रूप में परिणत होती है' ऐसा न मानकर यही क्यों न मान लिया जाए कि ब्रह्मसंकल्प से स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत हो जाता है ? प्रस्तुत सूत्र में इसका समाधान करते हुए कहा—ब्रह्म एकमात्र तत्त्व है। यदि यह माना जाता है कि स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत हो जाता है तो समस्त के परिणत होने की प्रसक्ति—स्थिति माननी होगी। सूत्र में **'वा'** पद **'च'** के अर्थ में है। उस अवस्था में जगत् से अतिरिक्त ब्रह्मतत्त्व की

सत्ता नष्ट हो जाएगी। फिर **'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः'** तथा **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** इत्यादि कथन व्यर्थ हो जाएँगे। ऐसा मानने पर ब्रह्म का अविकारी अथवा अपरिणामी स्वरूप भी जाता रहेगा। तब लोगों को ब्रह्म का साक्षात्कार करने का उपदेश देना भी निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि जगद्रूप में तो ब्रह्म का साक्षात्कार स्वतः सिद्ध है। यदि यह माना जाए कि ब्रह्म का एक अंश जगद्रूप में परिणत होता है और शेष ब्रह्मरूप बना रहता है तो ब्रह्म सावयव हो जाएगा, जबकि शास्त्र उसे निरवयव बताते हैं।[1] यह आधी मुर्गी को मारकर खा जाने और शेष आधी को अण्डे देने के लिए छोड़ देने के समान होगा।

४०. **श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्।**—२।१।२७

गत सूत्र में प्रस्तुत समस्या का समाधान शब्दप्रमाण के आधार पर हो जाता है। ऐसे परोक्ष विषयों में शब्द मुख्य प्रमाण होता है।[2] वेद और वैदिक साहित्य ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता-नियन्ता-अधिष्ठाता प्रतिपादन करते हैं, स्वयं जड़ जगत् के रूप में परिणत होनेवाला उपादानतत्त्व नहीं। ऋग्वेद (१०।८२।७) में कहा—**'न तं विदाथ य इमा जजान'** उसे नहीं जाना जिसने इन लोक-लोकान्तरों को रचा। उपनिषदों में यह भावना प्रकट की गई है—**'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत'** (ऐ० १।१-२)। उसने ईक्षण किया कि मैं लोकों को बनाऊँ। उसने इन लोकों को बनाया। स्पष्ट है, वह स्वयं लोकों के रूप में नहीं बना। छान्दोग्य (६-३।२-३) में कहा—**'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता··नामरूपे व्याकरवाणीति··· सेयं देवतेमांस्तिस्रो देवता···नामरूपे व्याकरोत्।'** कितने स्पष्ट शब्दों में यहाँ ब्रह्म के त्रिगुणात्मक प्रकृति उपादान से जगद्रचना का वर्णन किया गया है—उस देवता (परब्रह्म) ने ईक्षण किया, मैं सत्त्व-रजस्-तमस् रूप तीन देवताओं को नामरूप से विस्तृत करूँ। उसने इन तीन देवताओं को नामरूप से विस्तृत किया। यहाँ दोनों बातें सर्वथा स्पष्ट

---

१. **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।**— श्वेत० ६।१९
दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।— मु० २।१।२
अस्थूलमनणु···अह्रस्वमदीर्घम्···अनन्तरमबाह्यम्।—बृ० ३।८।८

२. **अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।**
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम॥

हैं—(१) जगत् का निमित्तकारण ईश्वर है और (२) उपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृति। **'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'** (तै० २।६) इस वाक्य में **'बहु स्याम्'** 'बहुत हो जाऊँ' कहकर भी वाक्यशेष में **'इदं सर्वमसृजत'** कहा, **'इदं सर्वं स्वयमभवत्'** वह स्वयं सब हो गया—नहीं कहा गया। **'अभवत्'** **'भूत्वा'** न कहकर **'असृजत'** **'सृष्ट्वा'** क्रियापदों का प्रयोग किये जाने से स्पष्ट है कि उपनिषत्कार के मत में ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है। ईक्षिता—कर्त्ता परब्रह्म के साथ अतिरिक्त रूप में उपादानतत्त्वों का भी इन वाक्यों में यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है।

४१. न प्रयोजनवत्त्वात्।—२।१।३२

'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते' साधारण बुद्धि रखनेवाला मनुष्य भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। कुछ पुरुषार्थ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए करता है और कुछ दूसरों के हित के लिए। अनेक निष्काम एवं निःस्पृह व्यक्ति दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जगद्रचना में ब्रह्म का अपना कोई प्रयोजन सम्भव नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे अकाम, आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप बताया है—**'अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।'** अचेतन प्रकृति स्वयं अपना भोग नहीं कर सकती। निश्चय ही कोई अपूर्ण चेतन सत्ता उसकी भोक्ता हो सकती है। पर सर्ग से पहले पर—अन्य चेतन सत्ता है नहीं जिसके लिए जगद्रचना की जाए। बिना प्रयोजन प्रवृत्ति सम्भव नहीं। ऐसी अवस्था में ब्रह्म की जगद्रचना में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इस जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया है—

४२. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।—२।१।३३

ब्रह्म केवल लीलावश (स्वभाववश) जगत् की रचना करता है। लोक में ऐसे अनेक कार्य होते हैं। **'लीला'** पद का प्रयोग दो अर्थों में होता है—एक अनायास और दूसरा क्रीडा। जिस कार्य के करने में कोई श्रम न करना पड़े, वह कार्य अनायास (आयास=श्रम) किया गया कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में **'लीला'** पद का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। किसी कार्य के करने में जो श्रम का अनुभव न करे, वह उसका स्वभाव बन जाता है। इसी अर्थ में जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना ब्रह्म का स्वभाव है। इस स्वभाव के कारण ब्रह्म

का परिचय देते हुए सूत्रकार ने प्रारम्भ में कहा—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२)।

परमेश्वर द्वारा जगद्रचना का प्रयोजन बताते हुए योगदर्शन (२।१८) में लिखा है—**'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** यह जगत् जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिए है। योगदर्शन के व्यासभाष्य (१।२५) में कहा है—**'तस्यात्मानुग्रहाभावे भूतानुग्रहः प्रयोजनम्'** उसकी अपनी भलाई न होने पर भी प्राणियों की भलाई जगद्रचना में उसका प्रयोजन है। जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग और अपवर्ग का सम्पादन करता है; पर जगद्रचना आदि करना ब्रह्म का स्वभाव है, यह वस्तु-स्थिति है। आचार्य शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में एक पंक्ति लिखकर इस आशय को अभिव्यक्त किया है—**'एवमीश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति।'**

यदि जीवात्माओं पर अनुग्रह की भावना से ब्रह्म जगत् की रचना करता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सर्ग से पहले पर—अन्य कोई नहीं था ? न होता तो जगद्रचना के लिए ईक्षण या सङ्कल्प करने की क्या आवश्यकता थी ? यदि खानेवाला कोई न हो तो भोजन बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे स्पष्ट है कि सर्ग से पूर्व प्रलय-काल में जीवात्माओं का अस्तित्व था और बीजरूप में भोग्य सामग्री भी विद्यमान थी। ऋग्वेद (१०।१२९) में स्पष्ट लिखा है—**'आनी-दवातं स्वधया तदेकम्'** तथा **'रेतोधाः आसन्'**। प्रलयकाल में परमेश्वर अकेला नहीं था, उसके साथ **'स्वधा'** (प्रकृति) तथा उसका भोग करनेवाले **'रेतोधाः'** (जीवात्मा) भी थे। सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के भाष्य में लिखा है—**'रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन्।'** बहुवचनान्त 'रेतोधाः' से यह भी स्पष्ट है कि ये जीव संख्या में अनेक थे।

यहाँ आशंका होती है ब्रह्म द्वारा जगद्रचना में भूतानुग्रह प्रयोजन माना जा सकता था, यदि जगत् में समानता होती और सदा बनी रहती। जहाँ कुछ के साथ अच्छा और कुछ के साथ बुरा व्यवहार किया जाता है, वह जगत्स्रष्टा के अनुग्रह का परिणाम कैसे माना जा सकता है ? जगत् में सर्वत्र विषमता व्याप्त है। वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोषों से युक्त परमात्मा की सृष्टि में अनुग्रह नाम की वस्तु कहाँ हो सकती है ?

इस आपत्ति का निराकरण अगले सूत्र में किया है—

४३. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।—२।१।३४

शास्त्र में कहा है कि संसार में विषमता और दुःख किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा से है, अतः ये दोष ब्रह्म में नहीं ।

संसार में विषमता के दो कारण हैं—(१) मूल उपादानतत्त्व तथा (२) प्राणियों के शुभाशुभ कर्म । मूल उपादानतत्त्वों का परस्पर वैलक्षण्य तथा उनका अनन्त विविधताओं के साथ अन्योन्यमिथुनीभूत होकर उनका सम्मिश्रण प्राकृत जगत् की विलक्षणता तथा विविधता में महान् कारण है । कार्यजगत् की उत्पत्ति में तीनों गुण एकसाथ भाग लेते हैं । सर्वत्र एक की प्रधानता और अन्य दो की सहकारिता रहती है । तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलकर बनने के कारण पदार्थों में वैविध्य अनिवार्य है ।

अनन्त आत्माओं के अनन्त प्रकार के कर्म भी प्राकृत जगत् की रचना की विलक्षणता में निमित्त बनते हैं । शंकर कहते हैं कि "मनुष्य-जाति में जो विषमता पाई जाती है, उसका निर्णय जीवों के अपने कर्मों के आधार पर होता है, उसके लिए ईश्वर दोषी नहीं है ।"[१] "शुभकर्मों से सुख और पाप से दुःख होता है ।"[२] "जीवात्मा पुण्यकर्म से उच्च योनियों को, पापकर्म से पापयोनियों को तथा दोनों शुभा-शुभमिश्रित कर्मों से मनुष्ययोनि को पाता है ।"[३] सांख्यदर्शन में कहा है कि "कर्मों की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है ।"[४] इसी प्रकार न्यायदर्शन में बताया है कि "शरीर आदि विविध जगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार हुआ करती है ।"[५] वर्षा से पौधों के बढ़ने में सहायता मिलती है, किन्तु बढ़कर वे क्या बनेंगे, यह वर्षा पर नहीं, अपितु बीजों की प्रकृति पर निर्भर करता है । इसी प्रकार नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता का निर्णय जीवात्माओं के पूर्वजन्मों के कर्मों के आधार पर होता है ।

---

१. सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः ।

२. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।—बृ० ३।२।१३

३. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।
—प्रश्न० ३।७

४. कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ।—सांख्य० ६।४१

५. पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।—न्याय ३।२।६०

जगत् की रचना तथा प्राणियों के कर्मफलप्रदान का नियन्ता ईश्वर है।

इस विवेचन से इतनी बातें स्पष्ट हैं—

१. जीव अनेक हैं। परमात्मा एक है जो कर्मफलप्रदाता है।

२. जीव अनवरत जन्म-मरण के बन्धन में बँधे हैं। परमात्मा उनका नियामक है।

३. सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी जीवों की सत्ता बनी रहती है।

४. संसार की रचना जीवों के भोगापवर्ग के लिए पहले से विद्यमान त्रिगुणात्मक प्रकृति से होती है।

५. इस प्रकार ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की पृथक् सत्ता सिद्ध है।

४४. न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।—२।१।३५

सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में देहादि का विभाग न होने से जीवों के कर्मों की सम्भावना ही नहीं, तब कर्मों के कारण जगत् में विषमता है, यह निराधार है—ऐसा कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि कर्म अनादि हैं।

जीवात्मा देहादि के सहयोग से कर्म कर सकता है, अन्यथा नहीं। प्रलयकाल में जीवात्माओं के साथ शरीरों का अभाव रहता है, इसलिए देहादि का होना सर्ग के अनन्तर सम्भव है। प्रलयदशा में देहादि के न होने से जीवात्माओं के कर्मों की सम्भावना नहीं। ईश्वर ने जब प्रारम्भ में सृष्टि रची तो निर्णायक के रूप में जीवों के पाप-पुण्य विद्यमान नहीं थे। जितना यह सत्य है कि पाप-पुण्यकर्मों के बिना विभिन्न देहों व योनियों की प्राप्ति नहीं होती, उतना ही यह भी सत्य है कि बिना शरीर प्राप्त किये जीवात्मा पाप-पुण्य नहीं कर सकता। इसका यह अर्थ है कि कर्म होगे तो फलस्वरूप शरीर मिलेगा और शरीर होगा तो उसके द्वारा कर्म होंगे। इस प्रकार दोनों के एक-दूसरे पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय-दोष की प्राप्ति होगी। प्रस्तुत सूत्र में इस आशंका का समाधान किया है।

प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस कारण वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। वे एक-दूसरी के अनन्तर आवर्त्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता। वर्त्तमान में संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। इसलिए वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा! परन्तु उसका सदा अपने वर्त्तमान रूप में बना रहना आवश्यक

नहीं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाए तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्वादि गुणों का अभाव हो जाए। इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि हैं,[1] वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय भी प्रवाह से अनादि हैं। वर्त्तमान सृष्टि अपने प्रकार की पहली सृष्टि नहीं है। सृष्ट्युत्पत्ति से तात्पर्य वर्त्तमान सर्ग के प्रारम्भ से है, आदिसृष्टि से नहीं। इसमें ऋग्वेद का प्रसिद्ध प्रमाण है—**'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा-पूर्वमकल्पयत्।** (१०।१९०।३)

सृष्टि को प्रवाह से अनादि मानने पर 'आद्य' कर्म का प्रश्न नहीं उठता। जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं। अनादि काल से वे कर्म करते चले आ रहे हैं। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना—यह क्रम अनादि काल से चालू है। समय-समय पर होनेवाली सृष्टिरचनाओं तथा विलय की अवस्थाओं में भी कर्म का विधान देखा जाता है। इसलिए यह कहना कि सर्ग से पूर्व जीवात्माओं के कर्म सम्भव नहीं, सर्वथा असंगत है। जब तक कर्म का फल भोग नहीं लिया जाता तब तक वह बराबर बना रहता है। इसलिए यदि सर्ग के अन्त में कुछ अनुपभुक्त कर्म शेष रह जाते हैं तो उन्हें भोगने के लिए जीवात्माओं को अगले सर्ग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उन्हीं को भोगने के लिए जीवात्माओं को अगले सर्ग में शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार चालू सर्ग से पहले भी संसार का होना, आत्माओं का देहादि सम्बन्ध और उनके कर्मों का होना निश्चित होता है। फलतः इन सबको अनादि मानना युक्तियुक्त है। संसार में प्रत्यक्ष वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष का परिहार शंकराचार्य भी संसार के अनादित्व के आधार पर ही कर पाते हैं। वे कहते हैं—"संसार अनादि है, इसलिए यह दोष नहीं है। यदि संसार आदिमान् होता तो दोष आ सकता था। अनादि संसार में कर्म और सृष्टि के वैषम्य में विरोध नहीं आता। बीज से अंकुर बनता है, अंकुर से बीज।" इस प्रकार सृष्टि और कर्म का बीज और अंकुर के समान कार्यकारणभाव है।

---

१. **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा।**—श्वेत० १।९
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।—गीता० १३।१९
न त्वेवाहं जातु न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ —गीता० २।१२

यदि संसार अनादि है तो उस संसार को बनाने में निमित्तक जीवात्माओं और प्रकृति का अनादि होना स्वतः सिद्ध है। अनादि होने से अनन्त और अनाद्यनन्त होने से वे दोनों नित्य हैं। परमात्मा का नित्य होना निर्विवाद है। इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों की सनातन स्वतन्त्र सत्ता है। ईश्वर नियामक है, शेष दोनों नियम्य हैं।

४५. नाभाव उपलब्धेः।—२।२।२८

उपलब्धि से—प्रमाण द्वारा जाने जाने से अभाव नहीं है। जगत् को अभावरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से यह स्पष्ट रूप से जाना जाता है। यह उपलब्धि भ्रम है, ऐसी प्रतीति नहीं होती। लोक में भ्रमस्थलों का अनुभव वहाँ होता है, जहाँ संकल्प, श्रम और फल का सामञ्जस्य नहीं देखा जाता। यहाँ (जगत् में) संकल्प, श्रम और फल का सामञ्जस्य बराबर देखा जाता है जो व्यवहार और प्रतीति की सत्यता को सिद्ध करता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को भ्रमपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जगत् की वास्तविक सत्ता यदि न हो, तो प्रमाणों से इसकी उपलब्धि न होती। यह लोकसिद्ध अनुभव—जगत् सत्य है एवं भावरूप है—इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

४६. वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।—२।२।२९

स्वप्न की प्रतीति के समान जगत् की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि इनमें परस्पर वैधर्म्य देखा जाता है।

साधारणतया शरीरयुक्त आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जिस अवस्था में मन तथा इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का अर्थों से सम्पर्क रहता है, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। स्वप्न में आत्मा का मन से सम्पर्क रहता है। जो संस्कार जाग्रत् में इन्द्रियों द्वारा मन पर पड़ते हैं, वही निद्राकाल में उठ खड़े होते हैं। इसी का नाम स्वप्न है। जाग्रत् में उपलब्ध ज्ञान का विषय—प्रमेय पदार्थ—सम्मुख उपस्थित रहता है, इसलिए वह अनुभवरूप है। स्वप्न में विषय—पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती, इसलिए वह स्मृतिरूप है। स्वप्न तभी तक यथार्थ है, जब तक हम स्वप्न देखते हैं, क्योंकि स्वप्नावस्था में देखे पदार्थों और उनकी प्रतीति की जागने पर बाधा हो जाती है, जबकि जाग्रत् में होनेवाली प्रतीति और पदार्थों की

बाधा नहीं देखी जाती ।[1] स्वप्न में अन्यथा प्रतीति यही है कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है । पदार्थों के देश, काल व दशा में भी कुछ उलट-फेर हो जाता है । इस अन्यथाभाव से पदार्थमात्र को असत् नहीं माना जा सकता ।

स्वप्न में अग्नि का स्पर्श होने से हाथ जल गया था । जागने पर हाथ का जलना मिथ्या सिद्ध हुआ । तो क्या इस तर्क के आधार पर कोई जाग्रत् में अग्नि में हाथ डाल देगा कि जैसे स्वप्न में नहीं जला था, वैसे ही जाग्रत् में भी नहीं जलेगा ? तथ्यों को अनदेखा नहीं किया जा सकता । जब स्वप्न के प्रत्ययों का निर्माण जाग्रत् के प्रत्ययों की स्मृति से होता तो जाग्रत् के प्रत्यय मुख्य हैं, स्वप्न के गौण । इसलिए स्वप्न के प्रत्ययों की परीक्षा जाग्रत् की तराजू से तोलकर करनी चाहिए, न कि जाग्रत् के प्रत्ययों की स्वप्न की तराजू से ।

फिर, जिस ब्रह्म को जानने के लिए बादरायण वेदान्तदर्शन की रचना में प्रवृत्त हुए, उसका परिचय उन्होंने यही कहकर कराया कि वह सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला, धारण करनेवाला, तथा विलय करनेवाला है । समस्त शास्त्रों में ब्रह्म के इसी रूप की व्याख्या की गई है । अनेक शास्त्रों का तो प्रकृत विषय ही सृष्टि की रचना आदि की व्याख्या करना है । प्रतीति तो स्वयं हो जाती है, उसकी सिद्धि के लिए किसी योजनाबद्ध प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए । पर, सृष्टि में तो सर्वत्र व्यवस्था दीख पड़ती है । इसलिए उसे सर्वथा असत्, मिथ्या अथवा प्रतीतिमात्र कैसे माना जा सकता है ?

४७. न भावोऽनुपलब्धेः ।—२।२।३०

अनुपलब्धि होने से (जगत् का) ब्रह्मभाव नहीं ।

स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में भासता है, इसलिए जगत् ब्रह्मरूप से अन्य कुछ नहीं है—इस स्थापना का प्रत्याख्यान करते हुए इस सूत्र में कहा है कि शास्त्र के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप का जो निश्चय किया गया है, उस रूप में जगत् की उपलब्धि किसी प्रमाण द्वारा नहीं होती । ब्रह्म चेतनस्वरूप है, इस मान्यता से किसी का विरोध नहीं है । परन्तु

---

१. **बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदप्यवस्थायां बाध्यते ।**—शा० भा० २।२।२६
स्वप्नप्रत्ययो बाधितो जाग्रत् प्रत्ययश्चाबाधितः ।—भामती

प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों से जगत् का जड़ होना सिद्ध है। इसलिए जड़ जगत् का ब्रह्मरूप होना किसी प्रमाण से उपलब्ध न होने से सर्वथा असंगत है। ब्रह्म की अपनी सत्ता है, जगत् की अपनी। सर्वथा पृथक् इन दो सत्ताओं को किसी अवस्था में एक नहीं कहा जा सकता। फिर, यदि ब्रह्म ही जगद्रूप में भासित है तो इस भासमानरूप जगत् में आसक्ति को हेय क्यों माना जाता है?

४८. **क्षणिकत्वाच्च।**—२।२।३१

और क्षणिक होने से जगत् का ब्रह्मभाव सम्भव नहीं।

इस सूत्र में 'न' तथा 'भावः' पदों की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से है। सूत्र का 'क्षणिक' शब्द 'एकक्षणवर्त्ती' इस सीमित अर्थ को न कहकर सामान्य अर्थ 'विनाशी' या 'परिवर्त्तनशील' को कहता है। जगत् का परिणामी या परिवर्त्तनशील होना प्रत्यक्ष है। नियन्ता द्वारा प्रकृति—उपादानतत्त्व से अनेकानेक रूप में इसका परिणाम हुआ करता है। जगत् का यह रूप ब्रह्मरूप नहीं माना जा सकता। चेतनतत्त्व (ब्रह्म) कभी परिणामी नहीं होता, अतः जगत् का ब्रह्मभाव असम्भव है।

४९. **सर्वथानुपपत्तेश्च।**—२।२।३२

सब प्रकार से अनुपपन्न होने से (जगत् का ब्रह्मभाव सिद्ध नहीं हो सकता)।

ब्रह्म तथा जगत् का स्वरूप प्रकाश तथा अन्धकार के समान परस्पर विभिन्न है। जहाँ जगत् जड़ आदि धर्मों से युक्त है, वहाँ ब्रह्म चेतन, अपरिणामी, अविनाशी रहता हुआ जगत् का नियन्ता तथा अधिष्ठाता है। नियन्ता व नियम्य आदि का एक होना सम्भव नहीं। इस प्रकार परिणामी जड़ जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रकार सम्भव नहीं। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म की सत्ता के सिवा अन्य कुछ सत्य नहीं है, यह कहना अप्रामाणिक है। न तो जगत् ब्रह्मरूप है, न अभावरूप, न मिथ्या है।

५०. **नैकस्मिन्नसम्भवात्।**—२।२।३३

एक में सम्भव (एकमात्र ब्रह्म से जगदुत्पत्ति) न होने से सम्भव नहीं।

किसी कार्य अथवा परिणाम के लिए अनेक कारण अपेक्षित होते हैं। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग २।१८) के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने

और दोनों का नियमन करनेवाली सत्ता का होना आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादानकारण अचेतन तत्त्व होता है। चेतन तत्त्व केवल कर्त्ता या भोक्ता हो सकता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है। इस प्रकार परमात्मा केवल प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१२) में इन तीन कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख **'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च'** कहकर किया है। ईश्वर के पूर्ण तथा आप्तकाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई चेतनसत्ता होनी चाहिए, अन्यथा सृष्टि-रचना निष्प्रयोजन होगी। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी बिना किसी प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। खानेवाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैठेगा? इस भोक्ता की संज्ञा **'जीव'** है। यदि खाद्य सामग्री न हो तो खानेवालों को कौन घर में बुलाकर बिठाएगा। खाद्य या भोग्यरूप में प्रस्तुत **'प्रकृति'** है। जड़ होने से वह स्वयं अपनी भोक्ता नहीं हो सकती। कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती। कर्त्तृत्व चेतन का धर्म है। अचेतन तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। उसे गति देने तथा नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक पुरुषविशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही **'ईश्वर'** कहाता है। इसी प्रकार ज्ञाता—ज्ञेय—ज्ञान, अध्यापक—अध्येता—अध्ययन, व्याख्याता—श्रोता—व्याख्यान, क्रेता—विक्रेता—क्रययोग्य सामग्री, पालक—पालित—पालन साधन, सड़क—सड़क बनानेवाले—उसपर चलनेवाले आदि जब तक न हों, तब तक सांसारिक व्यवहार नहीं चल सकता। सृष्टि-रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों कारण हैं। इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग सम्भव नहीं हो सकता।

५१. एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम्।—२।२।३४

ऐसा होने पर तो परमात्मा की असम्पूर्णता—अव्यापिता हो जाएगी।

शास्त्रनिर्मित निरवयव व निर्विकार ब्रह्मस्वरूप के साथ उसके उपादानत्व का स्पष्ट विरोध है। ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। ब्रह्म को जगत् का परिणाम मानने पर तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होता है अथवा उसके किसी एक भाग

में परिवर्त्तन होकर जगत् का निर्माण होता है। यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होकर हमारी आँखों के सामने फैला हुआ है तो उसका ब्रह्मत्व ही जाता रहा, क्योंकि ऐसा होते ही उसकी समस्त विलक्षणताओं का लोप हो जाएगा। वह परिणामी तो हो ही जाएगा, इसके अतिरिक्त ऐसी कोई अतीन्द्रिय सत्ता नहीं रहेगी जिसकी खोज के लिए हमें प्रयास करना अपेक्षित होगा। वस्तुतः जगत् में रहने का अर्थ ब्रह्म में रहना अर्थात् ब्रह्मलीन होना होगा। सम्पूर्ण ब्रह्म के जगद्रूप हो जाने पर परात्पर ब्रह्म की कोई सत्ता संसार में नहीं रह जाएगी; केवल उसका कार्यरूप जगत् रहेगा। कार्यरूप होने पर वह एकदेशी हो जाएगा। कार्यरूप में छोटे से छोटा कण तथा यह समस्त विशाल जगत् सदा गतिशील रहता है—एक देश से दूसरे देश के लिए उसमें बराबर गति होती रहती है। इस प्रकार ब्रह्म के एकदेशी हो जाने से उसका निष्क्रिय, निश्चल बना रहना सम्भव नहीं रहेगा।

यदि ब्रह्म के किसी एक देश में परिवर्त्तन होकर जगत्सर्ग होगा तो उसकी अखण्डता नष्ट हो जाएगी। एक के दो ब्रह्म हो जाएँगे—एक शुद्ध ब्रह्म और दूसरा जगज्जाल में परिणत ब्रह्म। ब्रह्म के किसी अंश को जगद्रूप में परिणत मानना उसमें विकार होने का आपादन करना और उसे सावयव सिद्ध करना है। संकोच-विकास भी उसकी सावयवता को प्रकट करना है। जो भाग जगद्रूप में परिणत हो जाएगा वहाँ ब्रह्मरूप न रहने से उसकी अव्यापिता होगी। जिस वस्तु के भाग होंगे, वह नित्य नहीं होगी। इसी प्रकार जिस वस्तु के अवयव होंगे, वह अनिवार्यतः साकार होगी। परन्तु सभी शास्त्र एकस्वर से परमेश्वर को अकाय एवं निरवयव बताते हैं। इस प्रकार न केवल ब्रह्म का कार्त्स्न्यं तिरोहित हो जाएगा, अपितु उसका सच्चिदानन्दस्वरूप नष्ट होकर वह **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः'** नहीं रह सकेगा। वस्तुतः अध्यास, विवर्त्त, अनिर्वचनीयख्याति आदि सबका आश्रय लेकर भी उपादान के रूप में निरवयव ब्रह्म से सावयव जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र ने और स्वयं शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में अनेक आपत्तियाँ उठाते हुए ब्रह्म के जगद्रूप में परिणत

होने पर अनेक प्रश्नचिह्न लगाये हैं ।[1] प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में ब्रह्म के एक भाग का जगद्रूप में परिणत होना ऐसा होगा "जैसे कोई आधी मुर्गी को तो मारकर खा जाये और शेष आधी को अण्डे देते रहने के लिए छोड़ दे ।"[2]

ब्रह्म के समान प्रकृति एक व्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है । वह त्रिगुण-आत्मक अनन्ततत्त्वरूप है । इसलिए प्रकृति से जगत्परिणाम मानने में ऐसा कोई दोष प्राप्त नहीं होता । अनन्त कारणतत्त्वों के रूप में अवस्थित रहते हुए भी प्रकृति के अपेक्षित तत्त्व उपयोग में आते रहते हैं । जगत्सर्ग के लिए जितने तत्त्व जिस रूप में अपेक्षित हैं, सर्वज्ञ ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप में परिणत कर देता है । जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर उसके स्वरूप को निर्दोष नहीं रक्खा जा सकता । वह सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है ।

वेद में कहा है—"उस ब्रह्मपुरुष का एक पाद समस्त भूत हैं और अमरणधर्मा (अपरिणत) तीन भाग दिव्यलोक में हैं । वह अपने तीन भागों से जगत् के बाहर या ऊपर है और एक भाग यहाँ जगद्रूप में विद्यमान है ।"[3] "उस चतुष्पाद् ब्रह्मपुरुष का एक पाद इस संसार में

---

१. ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद् ब्रह्मशास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते । परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके साधिगता इति । नेत्युच्यते ··· ब्रह्मणः कूटस्थत्वाभ्युपगमात् । न हि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिः गतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति । कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम ॥ शा०भा० २।१।१४॥ आश्चर्य है कि शंकर अन्यत्र 'चेतनमेकं ब्रह्म स्वयं परिणाममानं कारणमिति स्थितम् (२।१।१६) तथा एकस्यापि ब्रह्मणः··· विचित्र परिणाम उपपद्यते (२।१।२४) कैसे लिख बैठे?

तत्सर्वात्मना वा परिणमते एकदेशे वा ? सर्वात्मना परिणामे कथं न तत्त्वव्याहतिः । एकदेशपरिणामे वा स एकदेशस्ततो भिन्नो वा अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत् कथं तस्य परिणामः ? अभेदे वा कथं न सर्वात्मना परिणामः ?

—भामती

2. We cannot have one part of God above and another part below. It would be like having half the fowl for cooking and leaving the other half for laying eggs.—Radhakrishnan : Hindu View of Life.

३. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।
त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥—यजु० ३१।३-४

प्रकट हुआ। उसी से चेतन-अचेतन समस्त जगत् प्रवृत्त हुआ।"[1] इससे प्रतीत होता है कि वेद के अनुसार ब्रह्म का कुछ अंश जगद्रूप में परिणत होता है और शेष अपने रूप में बना रहता है। परन्तु इन मन्त्रों का यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर वेद में अन्यत्र अनेक स्थलों पर ब्रह्म के निरवयवरूप का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों का विरोध होगा। प्रस्तुत वर्णन सर्वथा औपचारिक है और केवल इतने भाव को प्रकट करता है कि इतना विशाल जगत् भी उसकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ है—सर्वथा महत्त्वहीन है। यही कारण है कि परमात्मा समस्त विश्व का नियमन करने में समर्थ है। स्वयं परिणत होकर विकारी होनेवाले के लिए सबका नियन्त्रण करना सम्भव नहीं। इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करके उसे परिणामी मानना उसकी यथार्थ सत्ता से हाथ धो बैठना होगा।

५२. उत्पत्त्यसम्भवात्।—२।२।४२

(जीवात्मा की) उत्पत्ति सम्भव न होने से (उसे किसी तत्त्व का परिणाम नहीं कहा जा सकता।)

यह कहा जा सकता है कि जब परमात्मा ने सारी सृष्टि बनाई है और जीवात्मा भी सृष्टि का अंग है, तो उसने जीवात्मा को भी बनाया होगा, परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे पृथिव्यादि तत्त्वों की उत्पत्ति-प्रलय के सम्बन्ध में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, वैसे जीवात्मा के ईश्वर द्वारा बनाये जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत उसके उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्यत्व सिद्ध करनेवाले प्रमाण यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने में आते हैं। बृहद्० उप० में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था—**'अविनाशी वा अरे अयमात्मा-ऽनुच्छित्तिधर्मा'** (४।५।१४) अरे यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता। उच्छेद इसलिए नहीं होता, क्योंकि वह कभी उत्पन्न नहीं होता—**'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'** (गीता० २।२०); **'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'** (कठ० २।१८)। जब उत्पत्ति असम्भव है तो उत्पन्न करनेवाले का प्रश्न ही नहीं उठता। जगत् में जो कुछ परिणाम है, सब जड़ प्रकृति का है।

---

१. **पादोऽस्येहाभवत् पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥**
—यजु० ३१।४

जड़ का परिणाम जड़ ही हो सकता है, चेतन नहीं। प्राणियों को जड़ देह प्राप्त है, इसलिए प्राकृत तत्त्वों से उसकी रचना सम्भव है। जीवात्मा चेतन तत्त्व है, इसलिए देह की भाँति वह जड़ प्रकृति का परिणाम नहीं हो सकता। जीवात्मा को उत्पन्न न करने पर भी परमात्मा उसका नियन्ता व अधिष्ठाता इसलिए कहाता है कि वह उसके कर्मफलभोग की व्यवस्था करता है और उसके भोगापवर्ग के लिए जगत् की रचना करता है।

जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना ईश्वर का काम है, उन्हें उत्पन्न करना नहीं। जिनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना अपेक्षित है, यदि उन जीवों का पहले से अस्तित्व ही नहीं था तो सृष्टिरचना की आवश्यकता ही क्या थी? पहले भोक्ता जीवों को उत्पन्न करना और फिर उनके लिए सृष्टिरचना करना, अथवा पहले सृष्टिरचना करना और फिर उसके भोक्ता जीवों को उत्पन्न करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? फिर, जीवों की उत्पत्ति कार्य है जो कारण के बिना सम्भव नहीं। जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा? जीव के न होने पर दो ही पदार्थ शेष रह जाते हैं—प्रकृति और ईश्वर। जड़ प्रकृति से चेतनतत्त्व जीवों की उत्पत्ति असम्भव है। इसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर से अल्पज्ञ, एकदेशी, अल्पशक्ति तथा जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। अतः जीव का अनादित्व सिद्ध है।

५३. चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्।—२।३।१६

जन्म और मरण का कथन चर और अचर देहों के सहारे होता है। आत्मा में वैसा कथन गौण है, क्योंकि आत्मा के लिए ऐसा व्यवहार देह के होने पर ही होता है।

चर और अचर (स्थावर) ये दो प्रकार के देह जीवात्मा के देखे जाते हैं। जन्म-मरण का आश्रय केवल ये देह होते हैं। इनके जन्म-मरण मुख्य हैं। आत्मा में जन्म-मरण का व्यपदेश=कथन भाक्त है, गौण है। कारण यह है कि यह कथन देह के होने पर होता है। जन्म और मरण प्रत्यक्ष में देह का देखा जाता है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो बाह्येन्द्रियों से अप्रत्यक्ष है। जातकर्म आदि संस्कार भी देह के जन्मादि की अपेक्षा से किये जाते हैं, जीवात्मा के जन्मादि की अपेक्षा

से नहीं। जीवात्मा न जन्मता है, न मरता है। इसलिए जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।८) में कहा—**'स वा अयं पुरुषो-जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः'** जब यह जीवात्मपुरुष शरीर से युक्त होता है, तब जन्मा हुआ कहा जाता है, और जब यह शरीर से उत्क्रमण कर जाता है, तब इसे मरा हुआ कहते हैं, वस्तुतः न यह कभी जन्मता है, न मरता है। इसी प्रकार छान्दोग्य (६।११।३) में बताया—**'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते'** जीव से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता। इस प्रकार जीवात्मा के अनुत्पन्न एवं अविनाशी होने से उसके नित्य—अनादि तत्त्व होने का निश्चय होता है।

शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—"जीव की उत्पत्ति-प्रलय नहीं होते। इसी प्रकार शास्त्रोक्त कर्मफल का सम्बन्ध हो सकता है। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाए तो दूसरे शरीर में इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो? और शास्त्र में जो विधि-निषेधात्मक उपदेश हैं वे भी अनर्थक हो जाएँ। छान्दोग्य में भी कहा है कि 'जीव से त्यागा हुआ शरीर मरता है, जीव नहीं मरता।"[1] यह भाषा जीव-ब्रह्म का भेद दिखाने के लिए इतनी स्पष्ट है कि किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

५४. नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।—२।३।१७

जीवात्मा उत्पन्न आदि नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म-मरण-विषयक प्रमाण श्रुति में उपलब्ध नहीं। तथा श्रुतियों से उसके नित्य होने का पता चलता है।

'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (कठ० १।२।१८) यह आत्मा अजन्मा, नित्य, सदा रहनेवाला, पुराण पुरुष है, जो शरीर के नष्ट होने पर भी नहीं मरता। जीवात्मा के नित्यत्व के प्रतिपादक ऐसे शतशः प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं, किन्तु उसके

---

१. न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गते इष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावानर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।'
—शा० भा०

उत्पन्न होने का एक भी प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार जीवात्मा का उत्पन्न होना शब्दप्रमाण से सिद्ध नहीं होता। शंकराचार्य का कथन है—**'न चाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं, लक्षणभेदात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्मयुक्तो हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः।'** अविकारी परमात्मा ही जीव है, यह कहीं से पता नहीं चलता, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न हैं। परमात्मा अपहत-पाप्मा आदि विशेषणों से युक्त है, जबकि जीवात्मा इसके विपरीत है। यदि किसी भी रूप में ईश्वर को कारण और जीव को उसका कार्य माना जाएगा तो दोनों का एकसाथ होना नहीं बनेगा, जबकि वेदादि शास्त्र दोनों को 'सयुजा सखायौ' मानते हैं। यदि दुर्जनतोष-न्याय से जीव का परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होना माना जाएगा तो उसका विनाश होना और उत्पाद-विनाश होने से उसका अनित्य होना मानना होगा। जिसका आदि होगा, उसका अन्त अवश्य होगा। जो उत्पन्न होगा, वह मरेगा अवश्य। इसलिए जैसे परमेश्वर द्वारा बनाये गये हमारे शरीर का अन्त हो जाता है, वैसे ही उसके बनाये आत्मा का भी अन्त मानना होगा, परन्तु ऐसा मानने पर न किसी का पुनर्जन्म होगा, न मोक्ष। पूर्वजन्मों में अनुष्ठित शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए विविध प्रकार के शरीरों को धारण करना जीवात्मा की अनादि और अनन्त जन्म-कर्म-फल-परम्परा को सिद्ध करता है। यह जीवात्मा के अविनाशी और अविनाशी होने से अनुत्पन्न होने का स्पष्ट प्रमाण है।

यदि जीवात्मा को उत्पन्न माना जाएगा तो उसके लिए काल-विशेष की भी कल्पना अपेक्षित होगी। फिर उस कालविशेष में जीवों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्धारण करना होगा। बैठे-बिठाये परमेश्वर को क्या सूझी कि उसने असंख्य जीवों की सृष्टि कर डाली? पूर्णकाम ब्रह्म को अपने भीतर कौन-सी कमी जान पड़ी जिसे पूरा करने के लिए उसे जीवों की आवश्यकता पड़ गई? जब जीव नहीं थे तो उनके भोगापवर्ग के लिए अपेक्षित सृष्टि भी नहीं थी। उस समय **'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १।१।२)—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के निमित्तकारण के रूप में कथित ब्रह्म के इस लक्षण का क्या अर्थ होगा? किसके लिए वह ईक्षण द्वारा प्रकृति को नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिणत करता होगा? किसपर

दया करता होगा और किसका न्याय करता होगा ? वस्तुतः जीवों के न होने की दशा में परमात्मा अन्यथा सिद्ध हो जाएगा।

५५. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।—२।३।१९

आत्मा की उत्क्रान्ति, गति तथा आगति (की श्रुतियों) से आत्मा अणु या परिच्छिन्न है।

वेदान्तदर्शन के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद में १९वें सूत्र से लेकर ३२वें सूत्र तक जीवात्मा के अणुत्व का विवेचन हुआ है। इन सूत्रों में स्पष्ट किया है कि जीवात्मा के अणु होने के कारण उसका विभु परमात्मा से ऐकात्म्य नहीं हो सकता। अगले (२।३।२१) सूत्र में पूर्वपक्षरूप से आत्मा के 'अणुत्व' का निषेध होने से इस सिद्धान्त-स्थापना-सूत्र में वहाँ से 'अणु' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। उसके साथ 'श्रुतेः' पद का सम्बन्ध हो जाता है। तदनुसार ही प्रस्तुत सूत्र का अर्थ उक्त प्रकार से किया है।

परिमाण तीन प्रकार के माने जाते हैं—महत् अथवा विभु, मध्यम तथा अणु। जो सर्वत्र व्याप्त हो वह विभु, जो शरीरमात्र में व्याप्त हो वह मध्यम तथा जो शरीर में नियत स्थान में वर्त्तमान हो वह अणु कहाता है। जीवात्मपुरुष परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं अणु-परिमाण है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि 'यह अणु आत्मा शुद्ध अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है।'[1] आत्मा के माप का उल्लेख मिलने से भी उसके अणु-परिमाण होने की पुष्टि होती है। जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद में कहा है—"जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और एक (प्रकृति) है जो दीखती नहीं। इन दोनों में व्याप्त जो देवता (परमात्मा) है वही मेरा प्रिय है।"[2] इस मन्त्र में कथित जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया—"बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जाएँ, फिर उनमें से एक के सौ भाग किये जाएँ, तो उनमें से एक के बराबर जीव का परिमाण है और वह मुक्ति के लिए समर्थ है।"[3] उपनिषदों में अनेकत्र (कठ०

---

१. एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ।—मु० ३।१।९

२. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ —अथर्व० १०।८।२५

३. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥—श्वेत० ५।९

४।१२,१३; ६।१७; श्वेत० ५।८) जीवात्मा को अंगूठे के बराबर (अंगुष्ठमात्रः पुरुषः) बताया है। अंगूठे के बराबर कहने का यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अंगूठे के परिमाणवाला है। शरीर में जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है उसकी रचना अंगूठे जैसी होने के कारण तात्स्थ्योपाधि से ऐसा कह दिया है। तथापि किसी सम्भावित भ्रान्ति का निवारण कर देने के उद्देश्य से 'अंगुष्ठमात्र' के साथ ही 'आराग्र-मात्र' (सुई की नोक के बराबर) कह दिया। वस्तुतः ये वाक्य जीवात्मा के किसी नियत परिमाण का निर्देश न करके उसके अत्यन्त सूक्ष्म होने का बोध कराने के लिए कहे गये हैं।

जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है उन्होंने आत्मा को हृदयदेश में स्थित बताया है—**'हृदि ह्येष आत्मा'** (प्रश्नोपनिषद्); **'स वा एष आत्मा हृदि'** (छा० ८।३।३); **'हृद्यन्त-र्ज्योतिः पुरुषः'** बृहद्० (४।३।७)। इस प्रकार जीवात्मा के अत्यन्त सूक्ष्म होने और शरीर में उसके नियत स्थान पर रहने से शब्दप्रमाण के आधार पर उसके अणु होने का निश्चय होता है। प्रस्तुत सूत्र में प्रत्यक्ष अनुभव तथा युक्ति के आधार पर जीवात्मा का अणु होना सिद्ध किया है।

जीवात्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानने पर जीवात्मा के शास्त्र में वर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामंजस्य न हो सकेगा। जीवात्मा का एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाना 'उत्क्रान्ति' है। बृहदारण्यक (४।४।२) में कहा है—"अपने उस चेतन-स्वरूप के साथ यह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से निकल जाता है।"[1] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार "सूक्ष्म शरीर में परिवेष्टित जीवात्मा जब इस शरीर से निकलता है तो सब करणों के साथ ही निकलता है।"[2] 'गति' का सामान्य अर्थ 'जाना' और 'आगति' का आना' है। यह जाना-आना भी सर्वव्यापक आत्मा में सम्भव नहीं। मुण्डक (१।२।११) में कहा—"आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं।"[3] बृहद्० (४।४।६) में कहा

---

१. **तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।**—बृहद्० ४।४।२

२. **स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति।**—कौ० ब्रा० उ० ३।४

३. **सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति।**—मु० १।२।११

है—"उस लोक से आत्मा फिर आता है, इस लोक में कर्म करने के लिए।"[१] यहाँ जीवात्मा के परलोक में जाकर पुनः इस लोक में आने का वर्णन है। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने **'अव्यसः'** शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—**"अव्यसः=अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः"** अव्यापक, परिच्छिन्न जीवात्मा का।" इस प्रकार उत्क्रान्ति, गति और आगति के प्रमाणों और युक्तियों से आत्मा का परिच्छिन्न अथवा अणु-परिमाण होना सिद्ध है।

शंकराचार्य ने इन्हीं प्रमाणों के आधार पर जीव के अणुत्व का अनुमोदन करते हुए लिखा—**"आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभोश्चलनमवकल्पयत इति।"**

५६. स्वात्मना चोत्तरयोः।—२।३।२०

अगले दोनों गति-आगति के स्व-आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण आत्मा का अणु होना सिद्ध होता है।

शरीर को छोड़ना या वहाँ से निकलना तो शरीर के स्वामित्व को छोड़ने से भी सम्भव है, वह व्यापक आत्मा में भी हो सकता है। उसके लिए आत्मा को अणु मानना आवश्यक नहीं, इस शंका का समाधान करने के लिए इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया कि अगले दोनों गति-आगति का सम्बन्ध तो साक्षात् आत्मा से है, व्यापक आत्मा में गति-आगति सम्भव नहीं। जब गति-आगति के कारण आत्मा का अणु होना आवश्यक है, तब मुख्यरूप से आत्मा की उत्क्रान्ति भी सम्पन्न हो जाती है।

शंकराचार्य का कथन है—"जाना और लौटना अचल में नहीं हो सकता। अपने आत्मा से ही उनका सम्बन्ध होता है। गति कर्त्ता में ही हो सकती है। जाने और लौटने के लिए जीव का अणु होना आवश्यक है।"[२] गति का नियम है कि कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहाँ वह है और वहाँ भी गति नहीं कर सकती जहाँ

---

१. **तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।**—बृहद्० ४।४।६

२. **उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः सम्बन्धो भवति गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः।...तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः।**

है—"उस लोक से आत्मा फिर आता है, इस लोक में कर्म करने के लिए।"[1] यहाँ जीवात्मा के परलोक में जाकर पुनः इस लोक में आने का वर्णन है। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने **'अव्यसः'** शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—**"अव्यसः=अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः"** अव्यापक, परिच्छिन्न जीवात्मा का।" इस प्रकार उत्क्रान्ति, गति और आगति के प्रमाणों और युक्तियों से आत्मा का परिच्छिन्न अथवा अणु-परिमाण होना सिद्ध है।

शंकराचार्य ने इन्हीं प्रमाणों के आधार पर जीव के अणुत्व का अनुमोदन करते हुए लिखा—**"आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभोश्चलनमवकल्पयत इति।"**

५६. स्वात्मना चोत्तरयोः।—२।३।२०

अगले दोनों गति-आगति के स्व-आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण आत्मा का अणु होना सिद्ध होता है।

शरीर को छोड़ना या वहाँ से निकलना तो शरीर के स्वामित्व को छोड़ने से भी सम्भव है, वह व्यापक आत्मा में भी हो सकता है। उसके लिए आत्मा को अणु मानना आवश्यक नहीं, इस शंका का समाधान करने के लिए इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया कि अगले दोनों गति-आगति का सम्बन्ध तो साक्षात् आत्मा से है, व्यापक आत्मा में गति-आगति सम्भव नहीं। जब गति-आगति के कारण आत्मा का अणु होना आवश्यक है, तब मुख्यरूप से आत्मा की उत्क्रान्ति भी सम्पन्न हो जाती है।

शंकराचार्य का कथन है—"जाना और लौटना अचल में नहीं हो सकता। अपने आत्मा से ही उनका सम्बन्ध होता है। गति कर्त्ता में ही हो सकती है। जाने और लौटने के लिए जीव का अणु होना आवश्यक है।"[2] गति का नियम है कि कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहाँ वह है और वहाँ भी गति नहीं कर सकती जहाँ

---

१. तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।—बृहद्० ४।४।६

२. उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः सम्बन्धो भवति गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः।···तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः।

वह नहीं है। कोई वस्तु जहाँ वह है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है।[1] गति के लिए आकाश—रिक्त स्थान चाहिए। ईश्वर के सर्वव्यापक होने से कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो, इसलिए वह गति नहीं कर सकता। गतिविधान का नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापक (विभु) में नहीं।

५७. नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।—२।३।२१

आत्मा के अणुत्व का निषेध इस आधार पर किया जा सकता है कि श्रुति में अनेकत्र उसे विभु बताया है। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ आत्मा को विभु बताया है, वहाँ अन्य आत्मा (परमात्मा) का अधिकार (प्रकरण) है।

'आत्मा' पद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। कहाँ कौन-सा अर्थ अभीष्ट है, इसका निश्चय स्थल-प्रकरणादि को देखकर किया जाना चाहिए। बृहद्० (४।४।२२) में कहा—**"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु"** जो यह प्राणों से घिरा विज्ञानमय आत्मा है, यह महान् व अजन्मा है। मुण्डक (३।१।९) में कहा—**"यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा"** जिसके विशुद्ध हो जाने पर यह आत्मा विभु माना जाता है, अर्थात् चित्त शुद्ध हो जाने पर आत्मा की विभुता का पता लग जाता है। इस प्रकार के प्रमाणों के रहते आत्मा को अणु नहीं माना जाना चाहिए। सूत्रकार ने इसपर कहा कि बृहदारण्यक (४।४।२२) का जो सन्दर्भ आत्मा को महान् कहकर उसकी विभुता को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया है, वहाँ जीवात्मा का प्रसंग न होकर परमात्मा के वर्णन का प्रकरण है। उसी को महान् अथवा विभु कहा गया है। यद्यपि **'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'** में **'प्राणेषु'** पद को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जीवात्मा का वर्णन किया गया है; पर यहाँ पूर्वापर के सभी चिह्नों को देखकर निश्चय हो जाता है कि यह सब परमात्मा के सम्बन्ध में कहा गया है। परब्रह्म का साक्षात्कार प्राणी (मनुष्य—उपासक) को हृदयदेश में सम्भव है, इसलिए यहाँ उक्त पद का प्रयोग हुआ है। यह बात उक्त पद के आगे के **'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते'** सन्दर्भ से प्रकट हो जाती है। सत्य शास्त्र एक ही अर्थ को अणु तथा विभु दोनों

1. A thing does not move where it is; it cannot move where it is not. It moves from where it is to where it is not.

नहीं कह सकता। परब्रह्म के साक्षात्कार होने की भावना से उसका प्राणी के हृदयदेश में शयन--निवास करना बताया है। शरीर होने के कारण हृदयदेश में निवास करनेवाले जीवात्मा को महान् कहना शास्त्र द्वारा शास्त्र का स्वयं विरोध करना है। मुण्डक (३।१।६) के सन्दर्भ में **'विभवति'** क्रियापद का अर्थ **'प्रकाशते'** है। इसी सन्दर्भ के आरम्भ में जीवात्मा को अणु बताकर आगे कहा है—चित्त शुद्ध हो जाने पर वह आत्मा प्रकाशित होता है, जाना जाता है।[1] इसके अनुसार जहाँ कहीं आत्मा की विभुता का वर्णन है, वह सब परमात्मा का है, जीवात्मा का नहीं। अतः जीवात्मा के अणु होने में कोई बाधा नहीं आती।

शंकराचार्य ने आपाततः जीवात्मा के विभुत्व की प्रतीति करानेवाले सन्दर्भों को उद्धृत कर लिखा है—**"इत्येवं जातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत् नैष दोषः। कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः"** यह आक्षेप ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रकरण ब्रह्म का है। ये श्रुतियाँ ब्रह्म के परिच्छिन्नत्व का खण्डन करती हैं, जीव का नहीं।

स्वामी शंकराचार्य ने २८वें सूत्र तक की व्याख्या में जीवात्मा के अणुपरिमाण होने का अनुमोदन किया है। इन सूत्रों से जीव के परिच्छिन्न होने के साथ-साथ उसका ब्रह्म से भिन्न होना भी सिद्ध हो जाता है। इस बात का ध्यान आते ही उन्होंने पैंतरा बदला और इन सूत्रों को पूर्वपक्ष मानकर अगले चार सूत्रों में उनका खण्डन करते हुए जीव-ब्रह्म के अनन्यत्व का प्रतिपादन करने का प्रयास किया। परन्तु इन १० (१६ से २८ तक) सूत्रों में कोई भी शब्द ऐसा नहीं जिससे उन्हें पूर्वपक्ष माना जा सके, और न २६ से ३२ तक के सूत्रों में कोई शब्द ऐसा है जिससे पूर्वोक्त १० सूत्रों का खण्डन हो सके। उदाहरणार्थ—

२६वें सूक्त के भाष्य में शंकर लिखते हैं—"यदि जीव अणु होता तो समस्त शरीर की वेदना को अनुभव न करता। यदि कहो कि त्वचा का समस्त शरीर से सम्बन्ध है, इसलिए त्वचा के द्वारा वेदना का ज्ञान हो जाएगा, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पैर काँटे पर पड़ जाए तो सारे शरीर में पीड़ा अनुभव होनी चाहिए थी, क्योंकि

१. ज्ञानाप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।—मु० ३।१।८

काँटे और त्वचा का सम्बन्ध समस्त देह से है, परन्तु ऐसा होता नहीं। पीड़ा केवल पैर के तलवे में ही होती है।" वस्तुतः शंकर का यह कथन उनके शरीरविज्ञान से अपरिचित होने का प्रमाण है। हृदयदेश में बैठा आत्मा समस्त देह में व्याप्त ज्ञानवहा नाड़ियों के द्वारा पैर में लगे काँटे की अनुभूति करता है। शरीर के समस्त अवयवों तथा इन्द्रियों की भाँति पैर जड़ है, जड़ को दुःख की अनुभूति कैसे सम्भव है ? इसलिए अनुभूति का स्थान हृदयदेश है, पैर का तलवा नहीं; पैर केवल कण्टकवेध का स्थान है। साधारणरूप से यह समझ लिया जाता है कि यह अनुभूति कदाचित् पैर में हो रही है। दर्द का उस जगह प्रतीत होना आत्मा के सर्वशरीरव्यापी साधनों पर अवलम्बित है। इन्हीं साधनों के द्वारा आत्मा को सूचना मिल जाती है कि शरीर में अमुक स्थान पर काँटा लगा है। तारघर में एक स्थान पर बैठे हुए तारबाबू को पता चल जाता है कि तार लखनऊ से खटखटाया जा रहा है या कलकत्ता से। जैसे एक स्थान पर रक्खे दीपक की शिखा बहुत छोटी होते हुए भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, अथवा जैसे एकत्र स्थित सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा सारे संसार को आलोकित करता है, वैसे ही देह में एकत्र स्थित अणु-परिमाण आत्मा अपने विभिन्न करणों द्वारा समस्त देह को सचेत एवं सक्रिय बनाये रखता है और सारे शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव करता है।[1] लोक में जैसे एकत्र स्थित राजा सचिव आदि अपने सहायकों द्वारा अपने विस्तृत राज्य की व्यवस्था करता है और हर प्रकार की जानकारी रखते हुए उसपर शासन करता है, वैसे ही हृदय में स्थित जीवात्मा समूचे देह की व्यवस्था करता है। इस प्रकार समझने पर जीवात्मा को अणुपरिमाण मानने में कोई बाधा नहीं आती। जब पक्षाघात होता है तो तन्तु-सम्बन्ध में विकार हो जाने पर प्रभावित क्षेत्र में काँटा चुभना अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए था।

जीवात्मा के अणुपरिमाण होने का निगमन करते हुए सूत्रकार ने कहा—

---

१. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥—गीता १३।३३

५८. नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा।

—२।३।३२

यदि आत्मा को अणु न माना जाए, तथा अणु मानकर बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार न किया जाए, तो ज्ञान सदा होने या सर्वथा न होने की आपत्ति होगी या इन दोनों में से किसी एक के नियम की प्रसक्ति होगी।

वस्तुतः यदि जीवात्मा को अणु न माना जाए, तो वह परिमाण कहीं बीच में न रुककर विभु मानना होगा। विभु आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ सदा सम्बन्ध रहने से प्रत्येक ज्ञान निरन्तर होता रहना चाहिए। यदि सम्बन्ध रहने पर भी ज्ञान नहीं होता, तो ज्ञान कभी नहीं होना चाहिए, पर ये दोनों अवस्थाएँ लोकानुभव के विरुद्ध हैं। इसलिए विभु आत्मा का ऐसा स्वभाव नहीं माना जा सकता कि वह उपलब्धि-अनुपलब्धि दोनों का सहनियामक है। यदि इन दोनों में से अन्यतर का नियम माना जाए, अर्थात् यह कहा जाए कि आत्मा इन दोनों में से किसी एक का नियामक है, तो उसके अनुसार या तो सदा उपलब्धि होती रहनी चाहिए, या सदा अनुपलब्धि। पर लोक में ऐसा कभी नहीं देखा जाता; उपलब्धि और अनुपलब्धि क्रम से हुआ करती हैं। यह व्यवस्था आत्मा के विभु मानने पर सम्भव नहीं हो सकती।

आत्मा को अणु मानकर उपलब्धि आदि के लिए यदि बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार नहीं किया जाता, तो भी पूर्वोक्त उपलब्धि आदि दोष प्रसक्त होंगे। साधनरहित आत्मा को या तो सदा उपलब्धि होती रहे या सर्वथा नहीं होनी चाहिए। यह सब लोक-व्यवहार के विरुद्ध है। जीवात्मा की उपलब्धि आदि के साधन बुद्धि आदि करण उसकी संसारी दशा में सदा उससे आवश्यक रूप से सम्बद्ध रहते हैं। उनके सहयोग से वह अपने भोग और अपवर्ग की निष्पत्ति में समर्थ होता है। इस समस्त विवेचन से आत्मा का अणुपरिमाण होना स्पष्टतः सिद्ध है।

जीवात्मा को विभु मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा आकाश के समान सर्वत्र ओत-प्रोत है। तब, एक ही आत्मा सर्वत्र वर्त्तमान होने से सब शरीरों में वर्त्तमान होगा और सब जीवों के सुख-दुःख और क्रियाओं में समानता होगी। उस अवस्था में जन्म-मरण, संयोग-वियोग कुछ भी न होगा, परन्तु यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। ये सब

युक्तियाँ और प्रमाण आत्मा के अणुपरिमाण को सिद्ध करते हैं। अणु जीव का विभु ईश्वर से तादात्म्य सर्वथा असम्भव है।

५९. कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्।—२।३।३३

वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधरूप अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य कर कहे गये हैं। उनका अनुष्ठाता होने से वह कर्त्ता है।

शास्त्रों में जीवात्मा के लिए कर्त्तव्य कर्मों का विधान तथा अकर्त्तव्य का निषेध है। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्** (यजु० ४०।२); **'कृषिमित्कृषस्व'** (ऋ० १०।३४।१३), **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** (छा० १।१।१); **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** (शत० ११।५।७।२); **'सत्यं वद धर्मं चर'** (तै० १।११); **'वेदमेवाभ्यसेत्'** (मनु० ४।१४७) इत्यादि सन्दर्भों में जीवात्मा के लिए कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान का विधान है। इसी प्रकार **'गां मा हिंसीः'**(यजु० १३।४३) **'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** **'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** (तै० १।११) इत्यादि वाक्यों के द्वारा हिंसादि कर्मों का तथा विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रमाद का निषेध किया है। इन शास्त्रवचनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि आत्मा कर्त्ता है। संसारी जीवात्मा फल-प्राप्ति के लिए कर्मों का कर्त्ता और कृतकर्मों के फल का उपभोक्ता है। यह सब वर्णन आत्मा के कर्त्ता-भोक्ता होने के साथ-साथ ब्रह्म से उसके भेद का निश्चायक है। **'कर्त्ता चायं जीवः स्यात्'** इस वाक्य के द्वारा इन कर्मों का कर्त्ता जीव को माना है, ब्रह्म को नहीं।

६०. नांशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।—२।३।४३

भिन्न कथन होने से जीवात्मा परब्रह्म का अंश नहीं है।

ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। उसके सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी होने से ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो। तब आवरण को स्थान कहाँ मिलेगा? यदि ब्रह्म ही जीवरूप में परिणत होगा तो जीवों के अनन्त होने से वह अनिवार्यतः सावयव सिद्ध होगा। सावयव पदार्थ स्वयं विकारी होता है और विकारी होने से न वह नित्य हो सकता है, न सर्वव्यापक। यदि ब्रह्म सावयव होगा तो उसके अवयवों का संयोग करने के लिए किसी निमित्त की अपेक्षा होगी। ब्रह्म स्वयं संयोजयिता नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी अपनी सत्ता उन अवयवों का परिणाम है। अवयवों से मिलकर बननेवाला ब्रह्म जगत् का कारण

न होकर स्वयं कार्यरूप होगा ।

यदि ब्रह्म सावयव होगा तो अवयवों का एक-दूसरे से पृथक् होना सम्भव होगा । जब यह कहा जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई समय था जब वह अविभाजित सम्पूर्ण तत्त्व था और इस प्रकार हम सब ब्रह्म ही थे । कालान्तर में हम उससे पृथक् होकर अंशरूप हो गये । प्रकारान्तर से इसका यह अर्थ है कि अनेक जीवों से मिलकर ब्रह्म का निर्माण हुआ था । कालान्तर में उसका विघटन हो गया और वह टुकड़े-टुकड़े होकर संसार में बिखर गया । जब ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं थी तो उसका विघटन किसने किया ? और यदि उसने आतमहत्या की और स्वयं अपने टुकड़े कर डाले तो प्रश्न होता है कि उसे ऐसा क्यों करना पड़ा ? वस्तुतः परमात्मा अखण्ड है । वह सदा एकरस रहता है । उसमें किसी प्रकार के विकार, परिणाम या विघटन की सम्भावना नहीं ।

अंश सदा अवयवी का होता है। जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश— सम्पूर्ण इकाई में से काटकर बना भाग नहीं हो सकता । बादरायण ने आश्मरथ्य, औडुलौमि तथा काशकृत्स्न के जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध-विषयक मतों का विवेचन किया है । भास्कर तथा वल्लभ बलपूर्वक कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है, क्योंकि उनमें परस्पर भेद भी है और तादात्म्य भी । परन्तु शंकराचार्य का मत है कि ब्रह्म पूर्ण तथा अविभक्त रूप में जीवात्मा के रूप में विद्यमान है, क्योंकि ब्रह्म हिस्सों से मिलकर नहीं बना है । अतः यौगिक अर्थ में भी उसके हिस्से नहीं हो सकते । इसलिए शंकर ने इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का अंश है' यह अर्थ लगाया है कि 'जीव अंश जैसा' है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश होना सम्भव नहीं'—**अंश इवांशो, न हि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति ।** (२।३।४३)

परमेश्वर की अखण्डता के साथ उसके टुकड़ों में विभक्त होने या किसी के उसका अंश होने के विचार का सामञ्जस्य नहीं हो सकता । वाचस्पति मिश्र ने इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है—'यदि ईश्वर और जीव एक हैं तो शासक और शासित, नियामक और नियम्य, अन्वेष्टा और अन्वेष्टव्य, ज्ञाता और ज्ञेय, आधार और आधेय आदि में भेद की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए जीव निरवयव

ब्रह्म के अंश नहीं हो सकते ।[१]

अंशांशिभाव की पुष्टि में गीता (१५।७) का यह कथन अकाट्य प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—"**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" अर्थात्—इस संसार में मेरा (परमात्मा का) सनातन अंश ही जीवरूप है । परन्तु '**सनातन**' शब्द के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव घटाकाश, मठाकाश अथवा अग्नि की चिंगारी के समान ब्रह्म का अंश नहीं है । अंश कालातीत नहीं होता । कभी-न-कभी सम्पूर्ण इकाई से कटकर ही वह अस्तित्व में आता है । इसलिए वह सनातन नहीं हो सकता । यदि ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त हुआ होता तो इसी अध्याय के सत्रहवें श्लोक में जीव का ब्रह्म से भेद क्यों कथन किया जाता ?[२] और तेरहवें अध्याय में जीव को अनादि क्यों कहा जाता ?[३] गीता के उक्त वचन में '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः**' कहकर भी उसके नित्य तथा सनातन होने का निषेध नहीं किया है । जो कटकर वनता है, वह अनुत्पन्न अथवा अनादि नहीं हो सकता, अतएव जो नित्य है, वह अंश नहीं हो सकता । इसलिए यहाँ भी 'अंश' का तात्पर्य 'अंश इवांशः'—अंश जैसा अंश ही है, वास्तविक अंश नहीं । राधाकृष्णन ने इस श्लोक पर अपनी टिप्पणी में लिखा है—"इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म को टुकड़ों में बाँटा जा सकता है ।"[४]

यदि कहीं जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना करके इनके अभेद का उल्लेख मिलता है तो वह मात्र औपचारिक है । दोनों तत्त्वों के चेतनभाव की समानता को लेकर ऐसी कल्पना की गई है । ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिचेतन है, जबकि जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्तिचेतन है । इसलिए शास्त्रों में जीव को ब्रह्म जैसा मानकर उसका वर्णन कर दिया

---

१. **ईशितव्येशितृभावश्चान्वेष्यान्वेष्टृभावश्च ज्ञेयज्ञातृभावश्च नियम्य नियन्तृभावश्चाधाराधेयभावश्च न जीवपरमात्मनोरभेदेऽवकल्प्यते ।……नहि तावदनवयवेश्वरस्य जीवा भवितुमर्हन्त्यंशाः ।**"—भामती २।४।४३

२. **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।**—गीता १५।१७; उत्तम पुरुष इन दोनों (जीव तथा प्रकृति) से भिन्न है जो परमात्मा कहाता है ।—तिलक

३. **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।**—गीता १३।१९

४. This does not mean that the Supreme is capable of division or partition into fragments.—Radhakrishnan, 15.7

गया है। समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। यदि जीवात्मा परमात्मा का अंश होता तो उसमें अंशी के सभी गुण पाये जाते, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। स्वयं शंकराचार्य लिखते हैं कि "जैसे जीवात्मा संसार के दुःख का अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता।"[1] तब ईश्वर और जीव में अंशांशिभाव कैसे हो सकता है? वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकती।

जैसे लोक में पुत्र को पिता का अंश समझा जाता है, वैसे ही जीवात्मा को परब्रह्म का अंश समझा जा सकता है। पिता-पुत्र में अंशांशिभाव का क्या तात्पर्य है? पिता और पुत्र दो प्रकार के तत्त्वों का समुच्चय हैं—चेतन आत्मा और अचेतन शरीर। व्यवहार में 'आत्मा वै जायते पुत्रः' का प्रयोग होने पर भी दोनों के शरीर में चेतन ब्रह्म-जीव तत्त्व आत्मा एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। दोनों में किसी प्रकार की समानता नहीं है। इसलिए उनमें अंशांशिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मतत्त्व के अखण्ड होने से भी उसमें अंश आदि की कल्पना करना असंगत है। शरीर भी दोनों के एक-दूसरे से भिन्न हैं। तथापि पुत्र के शरीर की रचना में पितृशरीर के अंशों का उपयोग होता है। इसी आधार पर पिता-पुत्र में अंशांशिभाव की कल्पना की जाती है। फिर भी पुत्र को पिता का अंश उस रूप में नहीं माना जाता जिस रूप में जल की बूंद को जल का। जीवात्माओं के पिता के रूप में परमात्मा का वर्णन अनेकत्र पाया जाता है।[2] परमात्मा की प्रार्थना-उपासना करनेवाले जीवात्माओं को पुत्रक कहकर निर्देश किया गया है। इस प्रकार पुत्र और पिता के समान जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर अंशांशिभाव स्पष्ट होता है। परमात्मा के सभी गुण जीवात्मा में ज्यों के त्यों मिलें, यह कदापि सम्भव नहीं। और जब तक ऐसा न हो, तब तक जीवात्मा को परमात्मा का अंश नहीं माना जा सकता।

'इव' पद का प्रयोग उत्प्रेक्षा में (**अंश इवांशः**) होता है। उत्प्रेक्षा

---

१. यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति।—शा० भा० २।३।४६

२. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।—ऋ० ८।९८।११
त्वं पिताऽसि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्।—ऋ० १।३१।१०
अर्चन्तु पुत्रकाः।—ऋ० ८।६९।८
त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

सदा किञ्चित् समान, किन्तु एक-दूसरे से भिन्न पदार्थों में की जाती है। यही उपमा आदि में होता है। जब हम किसी पदार्थ को अन्य पदार्थ जैसा कहते हैं तो उसका यह अर्थ होता है कि दोनों में कुछ समानता है, यह नहीं कि दोनों में तादात्म्य है या दोनों एक हैं। यदि हम कहते हैं कि 'देवदत्त यज्ञदत्त जैसा है' तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि कुछ बातों में वे दोनों एक-जैसे हैं। यदि वे दोनों सर्वथा एक होते तो हम 'देवदत्त यज्ञदत्त जैसा है' न कहकर 'देवदत्त यज्ञदत्त है' कहते। इसी प्रकार 'जीवात्मा परमात्मा के अंश जैसा है' का यही तात्पर्य है कि कुछ गुणों के कारण दोनों में समानता है। इससे दोनों में सारूप्य, अभेद अथवा तादात्म्य की सिद्धि नहीं होती।

६१. **प्रकाशादिवन्नैवं परः।**—२।३।४६

प्रकाशादि की तरह परमात्मा (परः) दुःखादि का अनुभव नहीं करता।

'प्रकाश' पद यहाँ सूर्य का बोध कराता है। जिस प्रकार दूषित पदार्थों पर पड़ने पर भी सूर्य उन दोनों से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार हृदयदेश में जीवात्मा के साथ विद्यमान होने पर भी उसके दुःख आदि भावों से दुःखी या लाञ्छित नहीं होता। इसी भाव को कठोपनिषद् (२।२।११) में कहा—"जैसे सूर्य सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होनेवाले बाह्यदोषों से लिप्त—दूषित नहीं होता, वैसे ही समस्त भूतों में व्याप्त रहता हुआ ब्रह्म लोकदुःख से दुःखी नहीं होता, क्योंकि वह स्वरूप से उससे पृथक् है।"[1] जेल में अपराधी होते हैं जो अपने अपराधों का दण्ड भोगने के लिए वहाँ रहते हैं। वहीं उनके साथ जेल का प्रबन्ध व नियन्त्रण करनेवाले जेल के अधिकारी भी रहते हैं; किन्तु उन्हें जेल के कष्ट नहीं सहन करने पड़ते। इसी प्रकार जीवात्मा भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए शुभाशुभ कर्मों को करने तथा उनके फलों को भोगने के लिए शरीरस्थ हृदय में रहता है, जबकि परब्रह्म सर्वव्यापक होने तथा अन्तर्यामिरूप में सबका नियमन करने के लिए वहाँ विद्यमान होता है। इसलिए वह जीवात्मा के सुख-दुःखादि से प्रभावित नहीं होता।

---

१. **सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।**
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

सूत्रान्तर्गत **'एवं न परः'** वाक्य में **'परः'** पद से ब्रह्म को बोधित कर सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि जीवात्मा से ब्रह्म सर्वथा भिन्न तत्त्व है।

६२. स्मरन्ति च।—२।३।४७

(जीवात्मा के भोग आदि भावों से परब्रह्म अलिप्त रहता है) शास्त्र इस तथ्य का स्मरण करते—कथन करते हैं। 'स्मरन्ति' पद यहाँ 'समामनन्ति' का उपलक्षण समझना चाहिए।

'पुरुष' पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुए योगदर्शन (१।२४) में कहा—**'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** जो क्लेश, कर्म, कर्मविपाक व आशयों से सर्वथा असम्पृक्त—अछूता है, वह **'पुरुषविशेष'** ईश्वर है। इस प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी जीवात्म-धर्मों से सर्वथा अलिप्त और इस कारण अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। यह स्थिति जीवात्मा से परमात्मा को भिन्न करती है। इसी तथ्य की पुष्टि **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इत्यादि ऋग्वेद (१।१६४।२०) के इस मन्त्र में तथा इसी रूप में उपलब्ध मुण्डक तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों के सन्दर्भों में की गई है।

६३. अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।—२।३।४८

जैसे ज्योति—अग्नि आदि पदार्थ स्थानविशेष के सम्बन्ध से ग्राह्य तथा परिहार्य होते हैं, ऐसे ही जीवात्मा के लिए अनुज्ञा—परिहार देहसम्बन्ध से होते हैं।

लोक में देखा जाता है कि अग्न्याधान के लिए आग किसी पवित्र स्थान से लाई जाती है, श्मशान आदि अपवित्र स्थान से नहीं। आग यद्यपि सर्वत्र एक-जैसी है, पर स्थानविशेष के सम्बन्ध से वह स्वीकार्य या परिहार्य होती है। पृथिवी आदि से उत्पन्न ओषधि, फल-अन्नादि ग्राह्य होते हैं, पर उन्हीं तत्त्वों से बने शव—मृतशरीर आदि परिहार्य हो जाते हैं। वस्तुओं के विषय में ये अनुज्ञा—परिहार जैसे स्थानविशेष आदि के सम्बन्ध से होते हैं; ऐसे ही आत्मा के लिए शास्त्रीय अनुज्ञा—परिहार देहसम्बन्ध से होते हैं। सभी विधि-निषेध देह के साथ सम्बन्ध होने पर सम्भव होते हैं। 'देह' पद स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार के देहों का बोधक है। देह के साथ सम्बन्ध की यह स्थिति ब्रह्म के लिए नहीं है, अर्थात् देह के साथ जैसा सम्बन्ध जीवात्मा का होता है, वैसा

ब्रह्म का कभी नहीं होता। इसलिए अनुज्ञा—परिहार ब्रह्म के लिए न होकर जीवात्मा के लिए सार्थक हैं। इस आधार पर जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं हो सकते।

६४. असन्ततेश्चाव्यतिकरः।—२।३।४९

जीवात्मा तथा परमात्मा का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप होने से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उसके फलोपभोग की यह व्यवस्था नहीं हो सकेगी कि कर्म करनेवाले जीव को ही फल की प्राप्ति हो। सब जीवात्माओं के ब्रह्मरूप होने से वह समस्त कृति और भोग समान रूप से ब्रह्म को ही प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्म और कर्मफल का सांकर्य प्राप्त होगा।

सूत्रकार ने समाधान किया कि जीवात्मा अपने-आप में एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, जो परिच्छिन्न है। वह देह के एकदेश में निवास करता है, इसलिए उसका विस्तार (सन्ततिः) सर्वत्र नहीं है। वह जो कर्म करता है उनको वही भोगता है। यह बात आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसे परिच्छिन्न मानने पर ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में कर्म और कर्मफल के सांकर्यदोष की उद्भावना का अवसर नहीं रहता।

६५. आभास एव।—२।३।५०

जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने में ही (आभासे—एव) सांकर्यदोष का उद्भावन सम्भव है।

आभास का अर्थ है—प्रतिबिम्ब। जैसे सूर्य आदि का जलादि विभिन्न वस्तुओं में प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसे ही जीवात्मा एक ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्बमात्र है, तो ऐसी अवस्था या मान्यता में सांकर्य दोष सम्भव है। इस प्रसंग में सबसे पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि ब्रह्म जैसे तत्त्व का प्रतिबिम्ब हो भी सकता है या नहीं? सूर्य का जल में अथवा मुख का दर्पण में विषयक दृष्टान्त यहाँ सर्वथा विषम है, क्योंकि ये पदार्थ स्थूल, सावयव, सरूप हैं। सर्वथा निरवयव, नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब व आभास कैसे सम्भव है? इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु में हो सकता है। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं तो प्रतिबिम्ब कहाँ होगा? फिर, प्रतिबिम्ब के लिए दोनों वस्तुओं (जैसे मुख और दर्पण अथवा सूर्य और जल) में परस्पर दूरी होना आवश्यक है। सर्वव्यापक होने से न कोई

वस्तु ब्रह्म से दूर है और न ब्रह्म किसी वस्तु से दूर है—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।' ऐसी स्थिति में कहीं भी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ना असम्भव है। फलतः ब्रह्म के आभास की कल्पना सर्वथा निराधार है और आभास न होने पर सांकर्यदोष का उद्भावन असम्भव है।

६६. सन्ध्ये सृष्टिराह हि।—३।२।१

स्वप्न में सृष्टिरचना का कथन शास्त्र द्वारा कथन किया गया है।

स्वप्न में जो रथादि का दर्शन होता है, वह मात्र विपर्यय-ज्ञान है, भ्रान्ति है। इसी प्रकार जगत् में दृश्यमान पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। वे स्वप्न में देखे गये पदार्थों की भाँति प्रतीतिमात्र हैं। गौडपाद का कथन है कि "जैसे स्वप्न, जादू, इन्द्रजाल आदि मिथ्या हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् वेदान्ती सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या मानते हैं।"[1]

स्वप्न के स्वरूप का निर्देश करते हुए बृहदारण्यक में स्पष्ट कहा है—"स्वप्न में न रथ होते हैं, न रथ में जुतनेवाले घोड़े और न सड़कें; किन्तु वह रथ, घोड़े, सड़कें आदि सब रच लेता है। न वहाँ आनन्द है, न मोद, न प्रमोद; किन्तु वह आनन्द, मोद, प्रमोद की सृष्टि कर लेता है। न वहाँ तालाब होते हैं, न झीलें, न नदियाँ, किन्तु वह इन सबको बना डालता है। इसीलिए वह (आत्मा) कर्त्ता कहाता है।"[2] जो कभी हाथी पर नहीं बैठा, वह अपने को हाथी पर बैठे सैर करते देखता है। जिसने कभी पेट भरकर रोटी नहीं खाई, वह अपने को मालपुए उड़ाता पाता है। स्वप्न में इन पदार्थों की रचना की जाती है। यह उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में **'सृजते'** क्रियापद का प्रयोग किये जाने से स्पष्ट है। स्वप्न में इन सबकी सृष्टि करनेवाला जीवात्मा है, इसलिए सन्दर्भ के अन्त में 'स हि कर्त्ता' कहा है। इससे प्रमाणित होता है कि वहाँ रथ आदि विपरीत ज्ञानमात्र नहीं है, अपितु जीवात्मा द्वारा सृष्ट पदार्थ हैं। तथापि वे मिथ्या हैं, इसका निषेध नहीं किया

---

१. **स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं तथा।**
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥—२।३१

२. **न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता।**—बृहद्० ४।३।१०

जा सकता। इसी प्रकार दिखाई देने पर भी जगत् तथा उसके पदार्थ मिथ्या हैं।

इस मान्यता को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करके सूत्रकार ने अगले सत्र में इसका प्रत्याख्यान करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया है—

६७. मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।—३।२।३

स्वप्न तो वस्तुतः विपरीत ज्ञानमात्र है, क्योंकि वहाँ वस्तु का स्वरूप पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता।

'सन्ध्य' का अर्थ स्वप्न है, क्योंकि यह जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। बृहद्० (४।३।९) में स्पष्ट कहा है—**'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्'**। रथ आदि की सृष्टि कब होती है, इसके लिए उपनिषद् ने कहा—'स यत्र प्रस्वपिति' जब वह सोता है। देखना यह है कि क्या वहाँ जाग्रत् के समान सचमुच रथ आदि की रचना कर ली जाती है? अथवा वहाँ इन पदार्थों का विपरीत ज्ञानमात्र होता है? बादरायण कहते हैं कि ये 'मायामात्र' हैं। लोक तथा शास्त्र में माया शब्द प्रतीति, भ्रान्ति, धोखा, छल-कपट आदि का वाचक है। स्वप्न की सृष्टि तथा जाग्रत् की सृष्टि की तुलना करते हुए शंकराचार्य ने भी माया शब्द का इन्हीं अर्थों में ग्रहण किया है।[1] परन्तु यहाँ उन्होंने स्वप्न की सृष्टि को ही माया कहा है, जाग्रत् की सृष्टि को नहीं।

मानवदेह के अन्दर इतने बड़े रथों, घोड़ों, सड़कों आदि के लिए कहाँ स्थान रक्खा है? इसलिए वहाँ निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि वे वहाँ सचमुच बन गये होते तो जागने पर कहाँ चले जाते? इसलिए स्वप्न में रथादि की सृष्टि प्रतीतिमात्र है। स्वप्न में रथादि का वास्तविक अस्तित्व न होकर वह केवल प्रतीतिमात्र इसलिए माना जाता है कि वहाँ अर्थ का अभिव्यंजन पूर्णरूप (कात्स्न्र्य) के साथ नहीं हो पाता। पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश व काल में उचित निमित्तों से न होना।[2] स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों में यह दोष होता है। स्वप्न में शरीर के अन्दर

---

१. मायैव सन्ध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति।

२. न हि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने सम्भाव्यन्ते।
—शा० भा० ३।२।३

बड़े-बड़े पहाड़, जंगल व नगर दीख पड़ते हैं। छोटे-से देह में इन सबका वास्तव में हो सकना असम्भव है—इनके दीखने का यह उचित स्थान नहीं है। स्वप्न प्रायः रात्रि में देखे जाते हैं। सूर्य रात्रि में नहीं होता। इसलिए यदि स्वप्न में दिन और दिन में होनेवाले कार्य दीख पड़ते हैं, तो यह उनके लिए उचित काल न होने से विपरीत ज्ञानमात्र है। इसी प्रकार जब स्वप्नावस्था में दीखनेवाला घोड़ा तत्काल कुत्ता या वृक्ष दीखने लगता है तो यह निमित्तविषयक अनौचित्य है।

देशकाल-विषयक अनौचित्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि स्वप्न में जंगल, पर्वत आदि पदार्थ देह में उत्पन्न नहीं होते। वे तो अपने-अपने स्थान पर ही रहते हैं। फिर उस दशा में मनसहित आत्मा ही उन्हें देखने देह से निकल जाता है और घूम-फिरकर देह में लौट आता है। यह समाधान केवल कल्पनामूलक है। स्थूल देह से आत्मा के निकल जाने पर देह जीवित नहीं रह सकता। शयनकाल में श्वास-प्रश्वास की गति, रक्तसंचार आदि की क्रियाओं के यथावत् होने से स्पष्ट है कि जीवात्मा पलभर के लिए भी बाहर नहीं जाता। वस्तुतः स्वप्नकाल में देह के अन्दर रहते हुए ही आत्मा को इन पदार्थों की प्रतीति होती है। बृहद्० (२।१।१८) में बताया है—**'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते'** अपने शरीर में जीवात्मा स्वेच्छापूर्वक घूमा करता है। इसलिए इस विषय में **'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा'** (बृ० ४।३।१२) इत्यादि सन्दर्भों का लाक्षणिक अर्थ करना उचित है। स्वप्न में आत्मा देह से गया प्रतीत होता है, वास्तव में जाता नहीं। इसी प्रकार 'सृजते' क्रियापद का मुख्य अर्थ न लेकर गौण अर्थ लेना चाहिए। आत्मा को 'कर्त्ता' भी स्वप्नदर्शन की सृष्टि का हेतु होने की दृष्टि से कहा गया है, रथादि का निर्माता होने के कारण नहीं।

जाग्रत् में हाथी की सवारी न करने पर भी स्वप्नदशा में हाथी पर सवार होने का यह अर्थ नहीं है कि स्वप्न में एक नवीन मानस-सृष्टि की रचना होती है जिसका जाग्रत् से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वास्तव में स्वप्न में जाग्रत् ही कुछ अस्तव्यस्त होकर प्रतिभासित हो उठता है। हमने जाग्रत् में हाथी को भी देखा है और उसपर सवार होकर जाते हुए लोगों को भी देखा है। स्वप्न में इतना विशेष है कि दूसरों की जगह हम अपने-आपको हाथी पर बैठा देखते हैं। हाथी पर सवार होने की भावना हमारी भी थी, पर जाग्रत् में हम अपनी

भावना पूरी न कर सके। उसी भावनावश हमारी तीव्र वासना ने हमें हाथी पर बिठाया। इस प्रकार स्वप्न के दृष्टान्त से जगत् को मिथ्या नहीं माना जा सकता।

६८. सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्।—४।४।१

'स्वेन' शब्द से युक्त श्रुतिवचन से ज्ञात होता है कि ब्रह्म को प्राप्त होकर जीवात्मा अपने स्वरूप में बना रहता है।

छान्दोग्य (८।१२।३) में कहा—**"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"** ऐसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार किया हुआ आत्मा इस शरीर से उठ, परब्रह्म को प्राप्त कर, अपने शुद्ध रूप में बना रहता है। यहाँ **'स्वेन रूपेण'** इस कथन से, परब्रह्म को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से प्रकट होने का तात्पर्य यह है कि जब आत्मा संसारी दशा में होता है, तब स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से आवेष्टित तथा राग-द्वेषादि से अभिभूत रहता है। परन्तु जब ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है और उसके फलस्वरूप शरीरादि बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाता है, तब वह केवल आत्मस्वरूप से अवस्थित रहता है। स्पष्ट है कि उस अवस्था में भी उसकी सत्ता अक्षुण्ण रहती है।

६९. आत्मा प्रकरणात्।—४।४।३

(छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ में **'सम्प्रसाद'** पद से) आत्मा का ग्रहण होता है, यह प्रकरण से जाना जाता है।

आत्मा को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से युक्त बताकर कहा—**'इदं शरीरं···तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां···अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'** (छा० ८।१२।१) इस अमरणधर्मा अशरीर आत्मा का यह मर्त्य शरीर अधिष्ठान है, जब यह सशरीर रहता है, प्रिय और अप्रिय से अभिभूत रहता है; जब यह शरीरबन्धन से मुक्त हो जाता है, तब सांसारिक प्रिय-अप्रिय इसका स्पर्श नहीं करते। यह आत्मा की वह अवस्था है, जब इसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। आत्मा की उसी अवस्था को लक्ष्य कर आगे (८।१२।३) उसके लिए 'सम्प्रसाद' पद का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार प्रकरण से स्पष्ट है कि यहाँ इस पद से आत्मा का ग्रहण होता है।

७०. अविभागेन दृष्टत्वात्।—४।४।४

मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म के साथ अविभाग से अवस्थित रहता है।

ब्रह्मज्ञान हो जाने पर आत्मा ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। उसकी वह स्थिति ऐसी समझनी चाहिए, जैसी समुद्र को प्राप्त कर लेने पर नदियों की होती है। मुण्डक (३।२।८) के **'यथा नद्यः स्यन्दमानाः'** इत्यादि सन्दर्भ में उस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—"जैसे नदियाँ बहती हुई समुद्र में मिल जाती हैं, अपने नाम-रूप का परित्याग करके, ऐसे ही मुक्त जीव अपने नाम-रूप का परित्याग कर परात्पर ब्रह्म में लीन हो जाता है।" जब नदी समुद्र में मिल जाती है, तब वह अपने नाम और विशेष रूप का तो परित्याग कर देती है, किन्तु जलरूप में अपनी सत्ता का परित्याग नहीं करती। समुद्र के जल में वृद्धि हो जाने से स्पष्ट है कि नामरूप न रहने पर भी नदी के जल का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना हुआ है। इतना अवश्य है कि नदी का जल समुद्र के लावण्य से आप्लावित हो गया है। ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार वह जल फिर उठता है और वर्षा के द्वारा नदी में गिरकर फिर समुद्र में पहुँच जाता है। यह क्रम अनादिकाल से चला आता है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। कुछ ऐसी ही स्थिति आत्मा की है। साक्षात्कार हो जाने पर वह ब्रह्म को प्राप्त होकर आनन्द से आप्लावित रहता है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और आत्मा उस आनन्द की अनुभूति करता है—**'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** (तै० २।७)। ब्रह्म के साथ अविभाग से रहने का यही तात्पर्य है, यह नहीं कि वहाँ पहुँचने पर आत्मा अपने अस्तित्व को खो बैठता है।

७१. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च।—४।४।१७

जगद्व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य मुक्तात्मा को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि जहाँ जगद्रचना का शास्त्र में कथन है, वहाँ ब्रह्म का प्रकरण है, जीवात्मा का नहीं।

असीम ऐश्वर्य की प्राप्ति जीवात्मा को कभी नहीं हो सकती। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था आदि कार्य तो केवल परब्रह्म के अधीन रहते हैं। रामानुज का स्पष्ट मत है कि "सृष्टि की उत्पत्त्यादि तथा सर्वेश्वरत्वादि गुण जीव को मुक्तावस्था में भी प्राप्त नहीं हो सकते।"[1] वेदान्तसूत्रों के भाष्य में स्वयं आचार्य शंकर ने यही कहा—"जगत् के उत्पत्त्यादि

१. **एते च जगत्पतित्वजगद्विधरणसर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थायामपि न कथञ्चिद् भवन्ति।**

व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य मुक्तात्माओं को प्राप्त हो सकता है। जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है। इसमें उसी का अधिकार है। जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्माओं का सहयोग या सान्निध्य सर्वथा अनपेक्षित है। यह भी सम्भव है कि उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में परस्पर विरोध खड़ा हो जाए—कोई सृष्टि को बनाये रखना चाहे और कोई प्रलय करना चाहे।"[1] मोक्षदशा में जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद को और स्पष्ट करते हुए रामानुज लिखते हैं—"मोक्षावस्था में आत्माओं में, दो अंशों को छोड़कर, सर्वोपरि ब्रह्म की अन्य सब पूर्णताएँ विद्यमान रहती हैं। वे आकार में अणु-परिमाण हैं, जबकि सर्वश्रेष्ठ आत्मा विभु—सर्वव्यापी है। जीवात्मा प्रभु के रचे जगत् का अनुभव कर सकता है, किन्तु जगत् की सृजनात्मक गतिविधियों के ऊपर उसका कोई वश नहीं है, क्योंकि वह केवल ब्रह्म की ही विशेष शक्ति है।"[2]

शंकराचार्य और रामानुज दोनों के लेख से इतनी बातें विस्पष्ट हैं—

१—वेदान्तदर्शन के रचयिता वेदव्यास ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में (वे० सू० १।१।२) ब्रह्म का लक्षण करते हुए लिखा है—'जिससे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है, उसे ब्रह्म कहते हैं'—जन्माद्यस्य यतः। प्रस्तुत सूत्र में महर्षि वेदव्यास और उसके भाष्य में शंकर और रामानुज स्पष्ट घोषणा करते हैं कि मुक्तात्मा सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने पर भी सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य नहीं कर सकता। यदि जीवात्मा ब्रह्म में विलीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता, तो उसे सृष्टि-निर्माण आदि में असमर्थ क्यों बताया जाता? जो स्वरूपतः—मूलतः ब्रह्म था, और यदि उपाधि के कारण कुछ कसर भी थी तो उपाधि से छूटकर मोक्षावस्था में ब्रह्म में विलीन हो जाने पर पूरी हो गई; तब उसमें किसी प्रकार की अयोग्यता क्यों रह जाए? रामानुज

१. जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वान्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः। तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे। एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।—शा० भा० ४।४।१७

२. रामानुजभाष्य—ब्रह्मसूत्रभाष्य ४।४।१३-१५,१७

के अनुसार तो जगद्व्यापार से अतिरिक्त मोक्षावस्था में जीव और ब्रह्म में एक और अन्तर बना रहता है—जीव आकार में अणुपरिमाण होने से एकदेशी बना रहता है, जबकि ब्रह्म विभु होने से सर्वव्यापी होता है। वस्तुत: जीव न कभी ब्रह्म था, न अब है और न कभी बन सकेगा।

२—जीवात्मा का अस्तित्व तथा ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत नहीं है। यदि ऐसा होता तो अविद्या का नाश हो जाने के कारण मुक्त हो जाने पर उसका अस्तित्व मिट जाना चाहिए था, परन्तु शंकरादि के लेख से स्पष्ट है कि मोक्षदशा में जब अविद्या का जीवात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, तब भी जीवात्मा का भिन्न एवं स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है। इतना ही नहीं, सब आत्माएँ पृथक्-पृथक् अपना स्वत्व बनाये रखती हैं। ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि जीवात्मा का अस्तित्व और ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत है, और आत्मा ब्रह्म का आभासमात्र है जो अविद्योपाधि के कारण है। अन्त:करण के नष्ट हो जाने पर भी जीवात्मा का अस्तित्व बने रहने से स्पष्ट है कि जीवात्मा अपनी सत्ता के लिए अन्त:करण पर आश्रित नहीं है। अतएव अन्त:-करणोपाधि का राग अलापना निरर्थक है।

३—जगत् के उत्पत्त्यादि कार्य में मुक्तात्माओं का सहयोग ही नहीं, उनका सान्निध्य भी परमेश्वर को असह्य है, क्योंकि उनके मतभेदों के कारण उसे अपने उत्पत्त्यादि कार्य में बाधा पड़ने की आशंका है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि परमेश्वर में मुक्तात्माओं को समझा-बुझाकर उनके मतभेदों को दूर करने अथवा उनके मतभेदों के रहते अपना काम करते रहने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए इस विषय में उसने अपने सर्वाधिकार सुरक्षित रक्खे हैं।

४—परमेश्वर के अधिकारक्षेत्र में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति तथा मतभेद बने रहने से उनका व्यवहार लोकवत् बना रहता है जो उनके मोक्षदशा में भी अविद्या से मुक्त होने में सन्देह उत्पन्न करता है।

५—समुद्र में नदियों की भाँति (सरित्सागरवत्) मोक्षावस्था में ब्रह्म में आत्मा का लय नहीं होता। यदि ऐसा होता तो उस अवस्था में न उन्हें 'अनेक' कहा जाता और न उनमें परस्पर विरोध का प्रश्न उठता।

६—जीवों को ब्रह्म का अंश अथवा अग्नि की चिंगारियों के सदृश भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु के अंशों में समानता होने से उनमें परस्पर भेद या विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती।

७—अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी जीवात्मा न केवल **'ब्रह्म न भवति'** अपितु **'साम्यमपि नोपैति'**। इसीलिए ब्रह्म को स्वतः प्राप्त अनेक अधिकारों से उसे वंचित रहना पड़ता है। ब्रह्मलोक में रहते हुए भी उसे द्वितीय श्रेणी के नागरिक का जीवन बिताना पड़ता है। वह विशेषाधिकारसम्पन्न ब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकता।

भगवद्गीता

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥—२।१६

अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं होता, न भाव कभी अभाव हो सकता है। इन दोनों—सत्-असत्—के वास्तविक स्वरूप को तत्त्वदर्शी लोग ही जानते हैं।

प्रकृति और जीव पूरी तरह परमात्मा के अधीन हैं जो अन्तर्यामिरूप में इनका नियमन करता है। अनादि काल से इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी अवस्था में उनका नाश नहीं होता। प्रलयकाल में जब वे अपना नाम-रूप खोकर कारणावस्था को प्राप्त होते हैं, तब भी परमात्मा बीजरूप में प्रकृति तथा जीवों को अपने भीतर धारण किये रहता है। प्रलय के बाद जगत्सर्ग होने पर अव्यक्त प्रकृति इन्द्रियों का विषय बन जाती है और जीवात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुरूप देह धारण करके पूर्वजन्म में किये कर्मों का फलोपभोग करने तथा भविष्य के लिए कर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

अभाव केवल अभाव है। जिसकी अपनी सत्ता नहीं, उससे सद्रूप जगत् कैसे बन सकता है? प्रलयावस्था में स्वधा=जगत् के उपादान-कारण प्रकृति के साथ परमात्मा सदा अवस्थित रहता है। सर्गकाल में उसी अव्यक्त प्रकृति को कार्यरूप में परिणत कर वह जगद्रचना करता है। प्रकृति को नियन्त्रित करनेवाली शक्ति के रूप में परब्रह्म की सत्ता स्वतः सिद्ध है, किन्तु अभाव को भावरूप करना अथवा स्वयं अभौतिक होते हुए भी अपने में से जगत् के उपादान प्रकृति का सृजन करना उसकी शक्ति से बाहर है।

चेतन ब्रह्म सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है, उसमें किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं। जगत् परिणामी एवं जड़ है, फलतः उसका उपादानकारण ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो जगत् के समान जड़ एवं

परिणामी हो। 'प्रकृति' शब्द ही यह सिद्ध करता है कि जगत् का मूल-कारण प्रकृति है, क्योंकि जिससे कोई पदार्थ बनता है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं—**प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः**। कार्यावस्था में आने पर वह नाम-रूप धारण करती है। तब वह 'विकृति' कहाती है। वेद एवं वैदिक साहित्य में उस तत्त्व को **त्रिधातु, स्वधा, अदिति, वृक्ष, तमस्** आदि पदों से तथा दर्शन, उपनिषद् व अन्य पुराण साहित्य में उसे **प्रकृति, त्रिगुण, प्रधान, अजा, अक्षर, ब्रह्म, प्रसवधर्मिणी, तमस्** आदि पदों से अभिहित किया है। जगद्रचना के लिए अपेक्षित सामग्री=प्रकृति उपादान पहले से प्रस्तुत रहना चाहिए। ऐसा न होने पर जगद्रचना सम्भव न होगी, क्योंकि असत् से सद्रूप जगत् नहीं बन सकता।

वस्तुतः सृष्टि का उत्पाद और विनाश अथवा आविर्भाव और तिरोभाव एक प्रकार से संसार की प्रक्रिया के पड़ाव हैं। भूतकाल तथा वर्त्तमान की भाँति प्रलयावस्था तथा सर्गरचना में भी तारतम्य बना रहता है। प्रत्येक कल्प (सृष्टि की कालावधि) के प्रारम्भ में उन मूलभूत तत्त्वों का अनावरण होता है जो अपने भीतर विविधता की सम्पूर्ण श्रृंखला को धारण किये रहते हैं। सृष्टिरचना के समय जगत् नामरूप में विकसित होता है, जबकि प्रलयावस्था में वह अविकसितरूप में रहता है। सृष्टि, देशकाल के स्तर पर उसी की अभिव्यक्ति है जो पहले से ईश्वर के भीतर विद्यमान है।[1] प्रत्येक कल्प के अन्त में ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का प्रतिसंहार करता है, अर्थात् भौतिक जगत् अव्यक्त प्रकृति में विलय हो जाता है। 'विलय' का तात्पर्य है कि उस अवस्था में कार्य अपनी आकृति का परित्याग कर देता है जो कार्य का निजी अस्तित्व है। तब वह केवल कारणरूप में पुनः अवस्थित हो जाता है। विकृति का दूसरा नाम परिवर्त्तन या रूपान्तर है, किन्तु नामरूप का

---

१. तुलना करें, एमिली ब्राण्टे—

Though earth and man were gone,
And suns and universe ceased to be,
And thou were left alone,
Every existence would exist in Thee.

यद्यपि पृथिवी और मनुष्य नष्ट हो गये,
सूर्यों और विश्व का भी अस्तित्व न रहा,
और तू अकेला रह गया,
तो भी प्रत्येक सत्ता तेरे अन्दर विद्यमान है

परिवर्त्तन नाश का द्योतक नहीं है। जो सत् है, वह सत् रहेगा और जो असत् है, वह असत् रहेगा। सत् से असत् अथवा असत् से सत् कभी नहीं होगा।

निमित्तकारण को उपादान बनते कभी नहीं देखा गया। फिर, ईश्वर ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है? ऐसा मानना सृष्टिक्रम के भी विरुद्ध होगा। शंकराचार्य कहते हैं कि "यह आवश्यक नहीं कि यहाँ भी ठीक वैसा ही हो, जैसा अनुभव में होता है।"[1] जब हम श्रुतिवाक्यों पर विश्वास करते हैं तो हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम अनुभव की भी अनुकूलता ढूँढें।[2] किन्तु जहाँ तक श्रुति का सम्बन्ध है, शंकराचार्य ने वेदों से एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जिससे निमित्तकारण को उपादानरूप सिद्ध किया जा सके। इसके विपरीत, ब्रह्मप्रेरित त्रिगुणात्मक प्रकृति जगत् का उपादानकारण है, इस तथ्य का निर्देश वेद, वैदिक साहित्य, उपनिषद् आदि में तथा अन्य भारतीय साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध है। प्रकृति उपादान से ही परब्रह्म जगत् की रचना करता है—वेदान्तदर्शन के अनुसार प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त दोनों ही इस कथन के अनुकूल हैं—**'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुपरोधात्'** (१।४।२३)।

वस्तुतः अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना श्रुति का कथन अर्थविहीन शब्दमात्र है। वाचस्पति मिश्र के मत में "केवल श्रुतिमात्र प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं हो सकती, किन्तु वही श्रुति श्रेष्ठ है जिसका निश्चित तात्पर्य है।"[3] निस्सन्देह श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए। वह अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर सकती। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में "सहस्रों श्रुतिवाक्य भी घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[4] शंकराचार्य कहते हैं कि "शास्त्र का प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी से अधिक श्रेष्ठ है, तथापि उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष के विषय हैं, वह अनुपयुक्त है।"[5] उनका यह भी कहना है कि "सैकड़ों श्रुतिवाक्य

---

१. **न अवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यम्।**
२. राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन, भाग २
३. **तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती, न श्रुतिमात्रम्।**
—भामती, सिद्धान्तलेशसंग्रह
४. **न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीष्टे।**—भामती, प्रस्तावना
५. **प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धेहि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादिविषये।**
—गीता (१८।६६) शा० भा०

भी अग्नि को ठण्डा नहीं कर सकते।"[1] इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर, वाचस्पति मिश्र आदि को श्रुति में प्रत्यक्ष के विरुद्ध अभिलेख होने की आशंका है। शंकर ने तो यहाँ तक लिख डाला कि "शास्त्र आदि सब अविद्यावत् हैं।"[2] किन्तु वही शंकराचार्य अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में शास्त्रों से उद्धृत प्रमाणों की भरमार कर देते हैं। ऐसी अवस्था में उनका शास्त्रों को मिथ्या अथवा अविद्यावत् बताना सर्वथा असंगत है, परन्तु शंकराचार्य के ग्रन्थ परस्पर विरोधी वाक्यों से भरे पड़े हैं। मानवीय रचना होने से अन्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता में अथवा उनके प्रत्यक्ष अनुभव के अनुकूल होने की शंका हो सकती है, किन्तु सृष्टि तथा वेद दोनों के एक ही सत्ता के कार्य होने से उनके परस्पर विरोधी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म के बनाये जगत् और उसी से प्रादुर्भूत वेद में पूर्ण सामंजस्य है। इसलिए उसमें भ्रान्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु शंकरादि चतुर्वेद-संहिताओं से अतिरिक्त अन्य सैकड़ों ग्रन्थों को भी श्रुति के नाम से अभिहित करते हैं जो सब मनुष्यकृत हैं, अतएव उनमें ऐसे अज्ञान का मिश्रण सम्भव है जो प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी हो। परन्तु ब्रह्मनिःश्वसित चतुर्वेद[3] के विरुद्ध उनके वचन का प्रामाण्य नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं हो सकता। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** में प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा तर्कसंगत, सर्वसम्मत तथा विज्ञान द्वारा अनुमोदित है। यदि जगत्सर्ग से पूर्व प्रकृति की सत्ता न होती तो दृश्यमान भौतिक रचना नहीं हो सकती थी।

सर्वशक्तिमान् होते हुए भी परमेश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें वह नहीं

---

१. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च। न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते।—शा० भा० २।३।२१; न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते।
—गी० १८।६६

२. अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।—शा० १।१।१

३. ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।—शा० भा० १।१।३

कर सकता। असम्भव को सम्भव बनाना उसकी शक्ति से बाहर है। ईसाई सन्त तथा विचारक सेंट थामस ने लिखा है कि परमेश्वर अतीत को नष्ट नहीं कर सकता, न स्वयं पाप में प्रवृत्त हो सकता है और न अपने को मारकर दूसरा ईश्वर बना सकता है।[1] प्लेटो का कथन है कि परमेश्वर मिथ्याचरण नहीं कर सकता, न कोई ऐसा काम कर सकता है जो उसके शुभगुणों के विरुद्ध हो।[2]

२. न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥—२।१२

जगत् के उपादानकारण प्रकृति का एक पर्याय **'अदिति'** है। प्रकृति के नामकरण में यह भी भावना है कि वह भोगी जाती है—**'अद्यते इति अदितिः।'** भक्षणार्थक **'अद्'** धातु से इसका निर्वचन किया जा सकता है। वस्तुतः प्रकृति का यह मुख्य स्वरूप है जो उसके **'अदिति'** नाम का आधार है। नित्य रहते हुए असीम ऐश्वर्यों को प्रस्तुत करने की भावना इसमें अन्तर्निहित है। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग० २।१८) के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोक्तृत्व चेतन का गुण है। परमात्मा तो आप्तकाम है। इसलिए उसकी प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग ब्रह्मेतर किसी चेतन तत्त्व के लिए हुआ है। वही जीवात्मा है। इस प्रकार परमात्मा प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। जीवात्मा की सत्ता तथा परमात्मा से उसके भेद का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है—"एक कर्त्ता भोक्ता है, धर्माधर्मरूप कर्मों को करता और उनके सुख-दुःखरूप फलों

---

1. He cannot undo the past, commit sin, make another God or make himself not exist.—Bertrand Russel : Hist. of Western Phil., P.480

2. Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in words or in deeds or to put forth a phantom of himself. —See Plato: Republic in Five Great Dialogues, Tr. by B. Jowett, p.285

   Can God restore virginity to a prostitute ?—Anslem.
   Can He produce a stone which he cannot lift ?
   Can He construct a triangle whose any two sides together should be shorter than the third ?

को भोगता है। इसके विपरीत दूसरा अपहतपाप्मा व पूर्णकाम है। इस कारण एक कर्मफलों को भोगता है, दूसरा नहीं।"[१]

प्रस्तुत श्लोक में कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"ऐसा कोई समय नहीं था जब मैं या तू या ये राजा लोग नहीं थे, और न कोई ऐसा समय होगा जब हम सब नहीं रहेंगे।" इस श्लोक में गीताकार ने जीवात्मा का नित्यत्व सिद्ध करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया कि अस्मद्-युष्मदादि भेद से सब जीवात्मा परस्पर भिन्न हैं। रामानुज ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—"इस श्लोक से सिद्ध है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर तथा 'तू एवं राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, यदि पहले (अतीत काल में) थे और आगे भी रहनेवाले हैं, तो परमात्मा और जीवात्मा दोनों ही पृथक्, स्वतन्त्र तथा नित्य हैं।" वस्तुतः यदि नानात्व की सत्ता न होती तो एकत्व की कल्पना सम्भव न होती। यदि नानात्व मिथ्या हो तो शास्त्रों के तत्सम्बन्धी वचन निरर्थक होंगे। शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, वह जीवात्माओं की अनेकता को मानकर कहा गया है।

यह कहना कि एकमात्र ब्रह्म से यह विविध जगत् उत्पन्न हो गया, केवल कथनमात्र है। जो स्वरूप से एक है, वह अनेक नहीं हो सकता। अनेकात्मक जड़ जगत् की भाँति अनेक जीवों को भी एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता। 'एक से अनेक' होने का अर्थ है कि पहले कोई वस्तु 'एक' थी, कालान्तर में वह अनेकरूप हो गई। परन्तु विवेच्य श्लोक के अनुसार यदि नानात्व नित्य है तो उसके किसी एक से प्रादुर्भूत होने अथवा प्रतीत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस श्लोक में गीताकार ने जीवात्माओं के नित्यत्व का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करने के साथ-साथ **'इमे', 'वयम्'** आदि बहुवचनान्त प्रयोगों से उनके अनेक होने की भी पुष्टि कर दी है। 'ऐसा कोई समय न था और न होगा जब मैं, तू या ये राजा लोग नहीं थे या नहीं होंगे'—इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि यहाँ प्रत्येक जीवात्मा को न केवल एक-दूसरे से भिन्न, अपितु सृष्टि का समसामयिक बताया है।

---

१. एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतो ऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य।

—शा० भा० १।२।८

शंकराचार्य ने इस श्लोक के भाष्य में लिखा है—"यहाँ जीवात्माओं के बहुत्व का वर्णन देहों के भेद के अभिप्राय से है, आत्मा के भेद के अभिप्राय से नहीं।"[1] आचार्य ने वेदान्तदर्शन के **'अंशाधिकरण'** तथा **'प्रयोजनवत्त्वाधिकरण'** में जीवात्माओं का नानात्व तथा परस्पर भेद स्वीकार किया है, क्योंकि इसके बिना उक्त अधिकरणों में पाप-पुण्य की व्यवस्था सम्भव नहीं बन सकती थी। प्रस्तुत सन्दर्भ में उससे विरुद्ध ब्रह्मात्मैक्य को मानने तथा नानात्व का प्रतिवाद करने से पूर्वोत्तर-विरोध तथा अभ्युपगम-विरोध आता है। इससे पूर्व तथा बाद के श्लोकों (२।११,१३) में आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिए उससे भिन्न देहादि जड़ जगत् को अनित्य बताया है। यहाँ पर ब्रह्म के नित्यत्व का अथवा लौकिक एवं परमार्थभूत जीवों के भेदाभेद का कोई प्रसंग ही नहीं है।

३. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥—१३।१९

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को भी अनादि जान। जगत् में उपलब्ध विकार—परिणाम तथा सत्त्वादि गुणों को प्रकृति से उत्पन्न मान।

जो अनादि है, वह अनिवार्यतः अनन्त है और अनाद्यनन्त होने से नित्य है। जो काल की गति में आकर नाम-रूप आदि के परिवर्त्तन से भी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं करता, वह नित्य होता है।[2] नित्य पदार्थ अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए जो पदार्थ अनुत्पन्न एवं त्रिकालवर्त्ती हैं, वही नित्य हैं।

'पुरुष' परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** (१०।९०।१), **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'** (यजु० ३१।१८), **'यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'** (मु० १।२।११), **'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः'** (मु० २।१।२) इत्यादि स्थलों में 'पुरुष' पद का प्रयोग परमात्मा के लिए हुआ है। इसी प्रकार जीवात्मा के लिए अनेकत्र 'पुरुष' पद का प्रयोग देखा जाता है—**'एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसः'**

---

१. देहभेदानुवृत्य बहुवचनं नात्मभेदाभिप्रायेण।
२. यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै।

(कठ० १।८), **'तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति'** (प्र० ४।२), **'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता⋯कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः'** (प्र० ४।९), **'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः'** (छा० ३।१४।१) इत्यादि। परमात्मा का अनादि होना निर्विवाद है। इसलिए परिशेष-न्याय से प्रस्तुत श्लोक में 'पुरुष' पद से जीवात्मा अभिप्रेत है।

परमात्मा को प्रवर्त्तकरूप से जाना-माना जाता है। परन्तु जैसे व्याप्य के बिना व्यापक संज्ञा उपपन्न नहीं होती, वैसे ही प्रवर्त्य के बिना प्रवर्त्तक की सिद्धि नहीं हो सकती। शरीर प्रवर्त्य है। उसमें आत्मा प्रवर्त्तकरूप है जो समस्त देह और उसके अवयवों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है। इसी प्रकार प्रवर्त्तकरूप ब्रह्म का प्रवर्त्य दृश्यमान चराचर जगत् है। यदि जगत् मिथ्या है और केवल ब्रह्म ही सत्य है तो बिना प्रवर्त्य के प्रवर्त्तक कैसा और प्रवृत्ति कैसी? आनन्दगिरि द्वारा अपने अणुभाष्य में कूर्मपुराण से उद्धृत एक श्लोक में 'प्रवर्त्य' का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः।
क्षोभयामास भगवान् सृष्टयर्थं जगतो विभुः ॥[1]

अर्थात्—जगत की सृष्टि के निमित्त परमेश्वर ने प्रकृति तथा पुरुष में प्रविष्ट होकर क्षोभ उत्पन्न किया। प्रासंगिक रूप में यहाँ ईश्वर, जीव प्रकृति (पुरुषोत्तम, पुरुष और प्रकृति) तीनों तत्त्वों का स्पष्ट वर्णन हुआ है।

४. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥—१५।७

इस संसार में मेरा (परमात्मा का) अंश ही सनातन जीवरूप है। परन्तु **'सनातन'** शब्द के कथन से यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव अग्नि की चिंगारी आदि के समान ब्रह्म का अंश नहीं है। अंश कालातीत नहीं होता। कभी न कभी सम्पूर्ण इकाई से कटकर ही वह अस्तित्व में आता है। जो कटकर बनता है, वह अनादि नहीं हो सकता। परन्तु ऊपर उद्धृत (१३।१९) श्लोक में जीव को अनादि कहा गया है। गीता के उक्त वचन में **'अंश'** कहकर भी जीव के

---

१. वर्त्तमान कूर्मपुराण में निम्न पाठ मिलता है—
प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः। क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः।
—कूर्म० ४।१३

सनातन व नित्य होने का निषेध नहीं किया है। जो नित्य है, वह अंश नहीं हो सकता।

समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। यदि समुद्र का जल खारा है तो उसकी एक-एक बूंद खारी होगी। चीनी का एक-एक दाना अनिवार्यतः मीठा और नमक का एक-एक दाना अनिवार्यतः नमकीन होगा। यदि जीव ब्रह्म का अंश होता तो उसमें अंशी के सभी गुण पाये जाते। परन्तु ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, निर्भ्रान्तित्व, सर्वव्यापकता आदि गुण जीव से और जीव के अल्पज्ञता, अल्पशक्ति, भ्रान्तित्व तथा परिच्छिन्नता आदि गुण ईश्वर से सर्वथा भिन्न हैं। स्वयं शंकराचार्य लिखते हैं कि "जैसे जीवात्मा संसार के सुख-दुःख को अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता।"[1] तब ईश्वर और जीव में अंशांशिभाव कैसे रह सकता है? वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकती।

ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। यदि ब्रह्म जीवरूप में परिणत होगा तो जीवों के अनन्त होने से वह अनिवार्यतः सावयव सिद्ध होगा। सावयव पदार्थ स्वयं विकारी होता है और विकारी होने से न नित्य हो सकता है, न सर्वव्यापक। इसलिए यदि कहीं जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना करके इनके अभेद का उल्लेख मिलता है तो उसे मात्र औपचारिक समझना चाहिए, इसलिए शंकर ने भी इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का अंश है' यह अर्थ लगाया है कि 'जीव अंश के समान अर्थात् अंश जैसा है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश होना सम्भव नहीं।'[2]

५. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥—४।५

श्रीकृष्ण का अभिप्राय इस श्लोक में यह है कि जीवात्मा के अनादि होने के कारण मेरे और तुम्हारे (=सबके) अनेक जन्म हो चुके हैं। परन्तु मैं योगज सामर्थ्य से उनके विषय में जानता हूँ, तुम

---

१. **यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति।**
—शा० भा० २।३।४६

२. **अंश इवांशो, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति।**—शा० भा० २।३।४६
This does not mean that the supreme is capable of division or partition into fragments.—Radhakrishnan

नहीं जानते। यदि जीवात्मा साक्षात् ब्रह्म या ब्रह्म का अंश होता तो परस्पर यह भेद न होता। यदि 'मैं' से श्रीकृष्ण का परमेश्वर होना अभिप्रेत हो (जैसाकि कुछ लोग मानते हैं) तो श्रीकृष्ण के रूप में जीवात्मा का भिन्न होना प्रमाणित होता है।

६. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥—१५।१७

इससे पूर्व श्लोक (१५।१६) में **'क्षरश्चाक्षर'**=प्रकृति (क्षर) तथा जीवात्मा (अक्षर) का उल्लेख करके प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि तीनों लोकों में प्रवेश करके उनको धारण करनेवाला ईश्वर इन दोनों से भिन्न (अन्य) उत्तम पुरुष है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, 'पुरुष' पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। जीवात्मा का परमात्मा से भेद बताने के लिए जैसे योगदर्शन (१।२४) में परमात्मा को **'पुरुषविशेष'** कहा है, वैसे ही यहाँ **'उत्तम पुरुष'** एवं अन्यत्र **'पुरुषोत्तम'** नाम से अभिहित किया है। विशेषणरूप में अव्यय पद का प्रयोग कर परमात्मा (जीवात्मा से उत्कृष्ट) को अपरिणामी बताया है। इससे स्पष्ट है कि समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर भी (**लोकत्रयमाविश्य**) वह जीवरूप या जगद्रूप नहीं है। इससे अगले श्लोक में इसी बात को विवृत करते हुए कहा है—

७. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मिल्लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥—१५।१८

क्योंकि मैं क्षर=प्रकृति से परे (क्षरमतीतः) और अक्षरादपि= जीवात्मा से भी उत्कृष्ट हूँ, इसलिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। कितना स्पष्ट प्रतिपादन है त्रिवाद का—ईश्वर, जीव और प्रकृति के एक-दूसरे से पृथक्त्व का! इसी मान्यता को और अधिक पुष्ट करने के लिए अगले श्लोक में कहा है—

८. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥—१५।१९

जो (तद्धर्मतापत्तिरूपयोग से ईश्वर के गुणों को धारण किये हुए) मुझको इस प्रकार (एवम्) अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न पुरुषोत्तमरूप में जानता है, वही सब प्रकार से मेरी भक्ति करता है।

९. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्तः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥—२।१८

देह तो अन्तवाले हैं, किन्तु उनमें रहनेवाला शरीरी नित्य एवं अविनाशी है।

वेदादि समस्त ग्रन्थों में ईश्वर को निराकार—अमूर्त्त बताया है। ईशोपनिषद् ८ (यजु: ४०।८) में उसे स्पष्टत: **'अकायम्'** (अशरीरी) कहा है। **'अकायम्'** कहने के बाद **'अव्रणमस्नाविरम्'** (व्रण और नसनाड़ियों से रहित) कहने की क्या आवश्यकता थी ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उव्वट ने अपने वेदभाष्य में लिखा है कि बलपूर्वक निरूपण करने की भावना से की गई पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं है ?[1] महीधर ने यास्काचार्य के **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** (निरुक्त १०।४२) इस वचन को उद्धृत करके कहा कि अर्थातिशय को व्यक्त करने के उद्देश्य से की गई पुनरुक्ति निर्दोष होती है।[2] दोनों भाष्यकारों ने परमेश्वर के अकाय होने के कारण ही उसे शुद्ध अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् के प्रभाव से असंपृक्त तथा योगदर्शन (१।२४) के अनुसार अविद्यादिक्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित कहा है।[3] महीधर ने ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हुए लिखा—**'अकायम्'** के साथ **'अव्रणं'** तथा **'अस्नाविरं'** इन दो विशेषण-पदों के लगने से ईश्वर के साकार होने का पूरी तरह निषेध हो जाता है। **'अकायं'** से लिङ्गशरीर का तथा **'अव्रणमस्नाविरं'** से स्थूलशरीर से वर्जित होना अभिप्रेत है।[4] केनोपनिषद् (१।२।२२) में उसे **'अशरीरं शरीरेषु'** प्राणियों के शरीरों में रहते हुए भी शरीररहित कहा गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'शरीरी' को नित्य और अविनाशी कहा है। जिसे नित्य और अविनाशी कहा है, वह अनादि-अनुत्पन्न है। इस कारण उसकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध है। यही जीवात्मा है, जिसे प्रकरणान्तर्गत **'शरीरी'** कहा गया है। अन्यत्र

---

१. **अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः।**
—यजु० ४०।८

२. **अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय।**—तदेव

३. **अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं शुद्धरजस्तमोभिरपापविद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्।**—तदेव

४. **अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जितः इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः।**

उसी का पर्याय **'शारीर'** है। इसी अध्याय के २२वें श्लोक (**वासांसि जीर्णानि**···) में उसे **'देही'** नाम से अभिहित कर समय-समय पर शरीर धारण करनेवाला बताया है। निश्चय ही यह शरीरी (जीवात्मा) अशरीरी (परमात्मा) से भिन्न है।

१०. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
—२।२०

छान्दोग्य में लिखा है—**"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते"**, अर्थात् जब देह से जीव निकल जाता है तो उसे मृत कहा जाता है; पर जीव नहीं मरता। छान्दोग्य के इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, वह साक्षात् जीवात्मा को लक्ष्य करके कहा गया है। यही बात गीता के प्रस्तुत श्लोक में **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** इन शब्दों में कही गई है। स्पष्ट है कि यहाँ 'हन्यते' क्रियापद का कर्म जीवात्मा है। उसी के विषय में यहाँ कहा गया है कि वह **'न जायते, न म्रियते, अजः, नित्यः, शाश्वतः** तथा **पुराणः'**। इस सबसे जीवात्मा की सनातन सत्ता सिद्ध है। **'पुराण'** का निर्वचन है—**'पुरा अपि नवा'** जो पुराना होते हुए भी नया हो। अजन्मा होते हुए भी नित्य नये शरीरों को धारण करने से जन्म लेता प्रतीत होता है, और हर बार नये शरीर के द्वारा व्यक्त होने से नया मालूम पड़ता है। **'भविता भूत्वा वा न भूयः'** का ही मानो विशदीकरण हुआ है **'न त्वेवाहं जातु०'** इत्यादि इसी अध्याय के १२वें श्लोक में। इस वर्णन से जीवात्मा का नित्यत्व और इस आधार पर उसका अनादि तत्त्व होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

११. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥—७।३

सहस्रों मनुष्यों में कोई-कोई सिद्धि के लिए यत्न करता है और उन यत्न करनेवालों में भी कोई ही मेरे यथार्थ स्वरूप को जानता है।

अविद्या का नाश मोक्षप्राप्ति का साधन है। यदि सब देहों में एक ही आत्मा का वास हो तो एक को ज्ञान प्राप्त होने पर सबको ज्ञान हो जाना चाहिए और ज्ञान प्राप्त होने पर एक की मुक्ति होते ही सबकी मुक्ति हो जानी चाहिए। एक के मुक्त होने पर सबका मुक्त न होना सहस्रों मनुष्यों की पृथक्-पृथक् सत्ता का प्रमाण है। रामानुज और वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी प्रत्येक जीव की अपनी

अविद्या है। जब किसी आत्मा को यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो उसके साथ सम्बद्ध अविद्या का नाश होकर उसे मोक्षलाभ हो जाता है। इसी कारण यह कहा गया है कि सहस्रों मनुष्यों में किसी-किसी को यथार्थ ज्ञान होकर सिद्धि प्राप्त होती है।

१२. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
१३. सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥—१३।३-४

'यत्तदद्रेश्यम्...यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' मुण्डक (१।१।६) के इस वचन में 'योनि' पद को उपादानपरक मानकर आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] वस्तुतः 'योनि' पद कारणमात्र का द्योतक है, केवल उपादानकारण का नहीं। लोक में प्रसिद्ध 'स्त्रीयोनि' शब्द स्थानविशेष का वाचक है।[1] सब जानते हैं कि स्त्रीयोनि किसी देह का उपादानकारण नहीं, अपितु देह के गर्भाशय से बाहर आने का मार्ग है। उसके उपादान आरम्भ में माता-पिता के रज-वीर्य और तदनन्तर शरीर की वृद्धि में सहायक तत्त्व हैं। पृथिवी को ओषधि-वनस्पतियों की योनि कहा जाता है।[2] किन्तु वास्तव में पृथिवी उनके प्रादुर्भाव का आधारमात्र है। ओषधि आदि के बीज ही उनके उपादान हैं। पृथिवी आदि तत्त्व उनके प्रादुर्भाव व वृद्धि में सहायकमात्र हैं। एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न पौधों के उत्पन्न होने का कारण यही है कि उनके उपादान-बीज भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए, 'भूतयोनि' शब्द से ब्रह्म का जगदुत्पत्ति में उपादानकारण होना सिद्ध नहीं होता। फिर, उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में ब्रह्म के जिस स्वरूप का वर्णन किया है, आनुभविक जगत् उससे सर्वथा विलक्षण है। इसलिए भी दोनों में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं बन सकता। किन्तु जहाँ कहीं आनुभविक जगत् के तथ्य शंकर को अपने पूर्वाग्रह में बाधक जान पड़ते हैं, वहीं वह 'न लोकवदिह

१. एवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्।—शा० भा० १।४।२७
२. क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—योनिष्ट ईन्द्र निषदे अकारि"
—(ऋ० १।१०४।१) शा० भा० १।४।२७
३. योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' इति—तदेव

भवितव्यम्' कहकर उससे छुटकारा पाने का विफल प्रयास करते हैं।

गीता से उद्धृत उपर्युक्त दो श्लोकों में इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है—"महद् ब्रह्म मेरी योनि है और मैं उसमें गर्भधारण कराता हूँ। फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्त्तियाँ जन्म लेती हैं, उनकी योनि महद् ब्रह्म है और मैं उसमें बीज डालनेवाला पिता हूँ।" अद्वैतपरक समझे जानेवाले इन श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादान-कारण के रूप में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। पिता के रूप में बीज डालनेवाला ब्रह्म निमित्तकारण है और जिसमें वह बीज डालता अथवा गर्भ धारण कराता है, उसके रूप में प्रकृति उपादानकारण है। 'ब्रह्म' पद परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति तीनों का वाचक है। 'ज्येष्ठ ब्रह्म', 'इदं ब्रह्म' तथा 'महद्ब्रह्म'[1] पदों का प्रयोग क्रमशः परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति के लिए होता है। तद्धर्मतापत्तिरूपयोग से ईश्वर के गुणों को धारण करनेवाले अथवा तात्स्थ्योपाधि से यहाँ परमात्मा के प्रतिनिधिरूप श्रीकृष्ण गीता के कविनिबद्ध वक्ता हैं। अतएव 'अहम्' पद से यहाँ परमात्मा अभिप्रेत है जो पितृरूप में कथित है। तब 'ब्रह्म' पद का दूसरा वाच्य प्रकृति रह जाता है जिसे मातृस्थानी समझना चाहिए। गीता को उपनिषदों का सार कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद् में आलंकारिक रूप में वर्णन करते हुए कहा है—**"पुमान्** (परमात्मा) **योषित्** (प्रकृति) में रेतः सिंचन करता है और इस प्रकार ब्रह्मपुरुष से समस्त प्रजा उत्पन्न होती हैं।"[2] जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना ही परमात्मा का योषित् में रेतःसिंचन करना है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ में गीता का आशय स्पष्ट हो जाता है।

यदि आपाततः 'योनि' पद का कहीं उपादानकारण के रूप में प्रयोग हुआ प्रतीत हो तो उतने मात्र से **'ब्रह्मयोनि'** या **'भूतयोनि'** आदि पदों के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहना सर्वथा असंगत होगा। यह केवल औपचारिक वर्णन माना जाना चाहिए, क्योंकि न लोक में किसी चेतनतत्त्व को किसी जड़तत्त्व का उपादान देखा जाता

---

१. **'महद्योनिः'** अर्थात् प्रकृति येरी योनि है।—तिलक : गीतारहस्य, १४।३
Great Brahma (Prakriti) is my womb.—Radhakrishnan

२. **पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥**—२।१।५

है और न कहीं शास्त्र में इसका उपपादन उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक भी द्रष्टव्य है—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥—९।१०

परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस कारण यह जगत् नानारूप में परिणमित होता है। इस श्लोक में यह बात बिल्कुल स्पष्ट कही गई है कि परमात्मा और प्रकृति दो पृथक् तत्त्व हैं। इनमें परमात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है जिसकी प्रेरणा से प्रकृति उपादान जगद्रूप में परिणत होती है।

१४. **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।**
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥—१०।८

परमात्मा से ही सबकी उत्पत्ति होती है अथवा परमात्मा ही सब जगत् की उत्पत्ति का कारण है और उसी से सब जगत् चेष्टा करता है। यही बात गीता के सातवें अध्याय के छठे श्लोक में इन शब्दों में कही गई है—**'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।'** यहाँ **'सर्वस्य प्रभवः'** का वही अर्थ है जो वेदान्तदर्शन में **'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) इस सूत्र का है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण परमात्मा है। इसकी विस्तृत व्याख्या ब्रह्मसूत्र से उद्धृत सूत्रों के विवेचन के अन्तर्गत की जा चुकी है। इसी भाव से **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'** (छा० ३।१४।४) तथा **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** (तै० ३।७) इत्यादि सन्दर्भों में परमात्मा को सब पदार्थों की उत्पत्ति आदि का कारण कहा गया है। जगत् का उपादानकारण प्रकृति परमात्मा से भिन्न है, यह गीता के सातवें अध्याय में स्पष्ट कर दिया है, इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में परमात्मा के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

१५. **कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।**
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥—१३।२०

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कार्य हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये तेरह करण हैं। इन सबका हेतु प्रकृति है, अर्थात् ये सब प्रकृति का विकार हैं। जीवात्मा सुख-दुःख के भोगने में हेतु है,

अर्थात्—अपने कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख भोगनेवाले जीव के लिए प्रकृति के कार्य और कारण हैं। यहाँ भोग्या प्रकृति तथा भोक्ता जीव का पृथक्त्व स्पष्ट है।

१६. य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥—१३।२३

जो इस प्रकार पुरुष (परमात्मा) और गुणों के साथ प्रकृति को जानता है, वह सर्वथा संसार में रहता हुआ भी फिर जन्म धारण नहीं करता, अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में **'पुरुष'** पद परमात्मा-पुरुष का वाचक है—यह **'एवं'**—इस प्रकार—से स्पष्ट है। इससे पहले श्लोक (१३।२२) में पुरुष को परमात्मा कहा गया है—**'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'**। इसलिए **'एवं'** पद **'परमात्मा'** का परामर्शक है। प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि जो परमात्मा और प्रकृति के यथार्थ स्वरूप को जानता है, वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रकृति, परमात्मा तथा उनको जानकर मुक्त होनेवाले जीवात्मा तीनों का एकसाथ कथन करके त्रिवाद का प्रतिपादन किया है।

१७. मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जयः।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥—७।७

परमात्मा से बड़ा और कोई नहीं है। सूत्र में मणियों के समान परमात्मा में यह सब ओत-प्रोत है।

इस श्लोक का विषयवाक्य यह है—

गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—**'यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति'** अर्थात् जिसे भूत, भवत् और भविष्यत् कहा जाता है, यह सब किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—**'आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति'** अर्थात् यह सब आकाश में ओत-प्रोत है। गार्गी ने एक बार फिर प्रश्न किया—**'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'** अर्थात् वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—**'एतद्वै तदक्षरं गार्गि।'** हे गार्गि, वह अक्षर ब्रह्म है। बृहद्० ३।८।७-८

इस प्रकार यहाँ **'मत्तः'** (मेरे से) और **'मयि'** (मेरे में) इन शब्दों से अक्षर ब्रह्म का तात्पर्य है। उस अक्षर ब्रह्म में व्याप्य-व्यापकभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पदार्थ माला के मनकों के समान पिरोये हुए हैं।

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' उस अक्षर ब्रह्म से बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। जैसे सूत्र मणियों का उपादानकारण नहीं, किन्तु उनमें व्याप्त है, वैसे ही ब्रह्म जगत् का उपादानकारण न होकर उसमें सर्वत्र विद्यमान है। रामानुज ने जगद्—ब्रह्म का शरीर—शरीरीभाव मानकर ब्रह्म को सब भूतों का अन्तरात्मा कहा है। व्याप्य-व्यापक में सान्निध्य होने पर भी ऐकात्म्य नहीं हो सकता। इससे तो जगत् और ब्रह्म में द्वैत की पुष्टि होती है।

१८. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥—७।१३

त्रिगुणात्मक प्रकृति से अभिभूत यह जगत् तीनों गुणों से परे मुझ अविकारी को नहीं पहचानता।

यदि माया परमात्मा की शक्ति है और उसका काम यथार्थ को छिपाना और भ्रम को उत्पन्न करना है तो शक्ति के शक्तिमान् होने से स्वयं ब्रह्म ही यथार्थ को छिपाने और भ्रम को उत्पन्न करनेवाला ठहरता है। जड़ माया को उसके लिए दोषी नहीं माना जा सकता। प्राकृत जगत् को बनाकर, इन्द्रियों को बहिर्मुख करके[1] और फिर माया के द्वारा यथार्थ को छिपा और भ्रम को उत्पन्न करके यह शिकायत करना कि "त्रिगुणात्मक प्रकृति से अभिभूत यह जगत् मुझे नहीं पहचानता" कहाँ तक न्याय्य माना जा सकता है? गीता के इस श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—"परमेश्वर इस बात से अत्यन्त क्षुब्ध है कि संसार नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करनेवाले मुझ परमात्मा को नहीं पहचानता।"[2] पहले परमात्मा स्वयं हमें भ्रमित करे और हमारे मन को अपनी ओर अभिमुख न करके हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दे और फिर 'मेरी ओर क्यों नहीं देखते' यह कह-कहकर दुःखी होता फिरे—परमेश्वर का यह समस्त व्यवहार जानबूझकर अपराध करनेवाले और उसका परिणाम सामने आने पर दुःखी होनेवाले सामान्यजनों के समान है, परन्तु वास्तव में इसमें परमात्मा का

१. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। —कठ० २।१।१

२. एवं भूतमपि परमेश्वरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वभूतात्मानं निर्गुणं संसारदोषबीजप्रदाहकारणं मां नाभिजानाति जगदित्यनुक्रोशं दर्शयति।

कोई दोष नहीं है। दोष है उनका जिन्होंने बैठे-ठाले यथार्थ को छिपाने और भ्रम उत्पन्न करनेवाली माया की कल्पना करके उसे ब्रह्म के साथ चिपटा दिया। वस्तुतः प्रकृति (माया) जीवों के मोह का कारण है, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के मोह का कारण नहीं।

१९. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥—७।१४

यह सत्त्व-रजस्-तमस् गुणोंवाली मेरी माया (=प्रकृति) दुर्लङ्घ्य है। जो लोग परमात्मा की शरण में जाते हैं, वे ही इसे पार कर पाते हैं।

जैसा कि पहले सिद्ध किया जा चुका है, 'माया' शब्द प्रकृतिवाचक है। प्राकृत पदार्थों के आकर्षण के कारण मनुष्य विषयों में लिप्त होकर परमात्मा से विमुख हो जाता है। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के मोह से मनुष्य परमात्मा को जानकर ही छूट सकता है—**'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** उस परमज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थिर होता है,[2] अर्थात् प्रकृति के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इससे अगले श्लोक में कहा है—

२०. न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
मायया अपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥—७।१५

माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसे आसुरी प्रवृत्तिवाले, दुष्कर्मों के करनेवाले मूढ़ तथा अधम पुरुष परमात्मा को नहीं पा सकते।

माया से जीवों का ज्ञान नष्ट होता है, ईश्वर का नहीं। अतः 'मायया अपहृतज्ञानाः' से जीव अभिप्रेत हैं जो प्राकृत पदार्थों को प्राप्त कर, उनसे सुख पाने की आशा में दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते और परमात्मा को भूल जाते हैं। यह बताते हुए कि सत्य का मुख सुनहरी (आकर्षक) ढकने से ढका हुआ है, उपनिषत्कार ने उसे उठाने का निर्देश किया है जिससे हम प्रत्येक पदार्थ को उसके वास्तविक रूप में देख सकें।[1] यही माया के चंगुल से मुक्त होना है। इन दोनों श्लोकों में अज्ञान से अभिभूत होने तथा दुष्कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले जीव का, उसे परमात्मा

---

१. **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यापिहितं मुखम्।**
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ —यजुः० ४०१; ईश० १५

२. **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**—छा० ८।३।४

से विमुख करनेवाली प्रकृति का तथा जीवात्मा के प्राप्तव्य परमात्मा का—तीनों का स्पष्ट उल्लेख है।

अद्वैतमतवादियों के अनुसार तो माया ब्रह्म में भी मिथ्याज्ञान उत्पन्न कर देती है, जैसाकि **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** (छा० ६।२।३) इस वाक्य की मायावादी यह व्याख्या करते हैं कि माया के वशीभूत ब्रह्म में ही जगद्रचना की इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में कोई इच्छा नहीं होती। यदि इन श्लोकों में ब्रह्म को मोहित करनेवाली माया अभिप्रेत होती तो अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीवों का क्या दोष है ? रामानुज इस विषय में लिखते हैं—"यदि कहीं मिथ्यार्थों में माया शब्द का प्रगोग आता है तो वह मात्र औपचारिक है, मुख्य नहीं। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्चों का बोलना मुख्य नहीं, गौणीवृत्ति से होता है, वैसे ही यहाँ माया प्रकृति का नाम है।"[1]

२१. **यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**
येनभूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥—४।३५

२२. **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

२३. **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

२४. **सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।**
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥

२५. **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥—६।२९-३२

२६. **यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।**
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥—९।६

इन सभी श्लोकों में परमेश्वर की सर्वव्यापकता एवं सर्वान्तर्यामिता का भाव अनुस्यूत है। छान्दोग्य के छठे अध्याय (प्रपाठक) में **'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** इत्यादि का अनेकशः उपदेश दिया गया है। एक बार उपदेश से जो ज्ञान होता है, वह केवल शब्दज्ञान है। जब तक साक्षात्कार न हो जाए, तबतक निरन्तर आवृत्ति करना

१. **मिथ्यार्थेषु मायाशब्दप्रयोगो मायाकार्यबुद्धिविषयत्वेनौपचारिकः। मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्। एषा गुणमयी पारमार्थिकी भगवन् मायैव 'मायान्तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यदिष्वभिधीयते।**

आवश्यक है। प्रयोजन पूरा होने तक उसके साधनों का निरन्तर अभ्यास अपेक्षित है। **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** (ईश० ५) वस्तुतः सूत्ररूप में कथित **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** का विस्तार है। यजुर्वेद ४०।६ (ईश० ६) के निम्न मन्त्र में भी इसी का व्याख्यान है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

ब्रह्मज्ञान और उसके द्वारा मोक्षलाभ की दृष्टि से इसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही इसपर इतना बल दिया गया है। मोह से छुटकारा पाने का उपाय बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—जिस ज्ञान को पाकर तू फिर कभी मोह में नहीं फँसेगा और जिस ज्ञान के योग से तू समस्त प्राणियों को अपने में (आत्मनि) और परमात्मा में (मयि) देखेगा—तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे— **'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'** (४-३४)। यहाँ 'आत्मनि' (अपने में) और 'मयि' (परमात्मा में) दोनों का एकसाथ उल्लेख करके जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद को स्पष्ट किया है। भागवत-पुराण में भगवद्भक्तों का लक्षण बताते हुए कहा है कि "जो सब प्राणियों को भगवान् में और अपने में देखता है, उसी को उत्तम भागवत कहना चाहिए।"[1] तद्धर्मतापत्तिरूपयोग से ईश्वर के अधिकांश गुणों को धारण कर लेने के कारण ही इस श्लोक में **'परमात्मनि'** के वाचक **'मयि'** पद का प्रयोग किया है। किन्तु मधुसूदन ने यहाँ अस्मच्छब्द के प्रयोग को देखकर इस श्लोक का अद्वैतपरक अर्थ करते हुए लिखा है—"जिससे वास्तव में कोई वस्तु भिन्न नहीं है, ऐसे अधिष्ठानरूप मुझमें अभेदरूप से देखोगे, क्योंकि अधिष्ठान से भिन्न कल्पित वस्तुओं का अभाव होता है।"[2] सम्पूर्ण सृष्टि के कल्पित होने का विचार मधुसूदन का अपना है। गीताकार को यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। ऐसा होता तो **'सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि चात्मनि'**

---

१. सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥—भा० पु० ११।२।४५

२. परमार्थतो भेदरहिते अधिष्ठानभूते द्रक्ष्यस्यभेदेनैव अधिष्ठानातिरेकेण कल्पितस्याभावात् ।—गीताभाष्य—मधुसूदन ४।३५

(६।२९), **'यो सर्वं मयि पश्यति'** (६।३०), **'यो सर्वभूतस्थितं मां भजति'** (६।३१) आदि वचनों में आत्मा का व्याप्य-व्यापक भाव से कथन न किया गया होता, क्योंकि व्याप्य और व्यापक एक नहीं हो सकते। फिर, आधाराधेय की तरह **'अधिष्ठेय'** के बिना 'अधिष्ठान' की कल्पना कैसे सम्भव है? लोकमान्य तिलक के मत में "सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखने से समस्त प्राणिमात्र में एकता का जो ज्ञान आगे (६।२९) वर्णित है, उसी का उल्लेख यहाँ किया गया है।"—गीतारहस्य, पृष्ठ ४२९-३०। गीता के इस श्लोक के उत्तरार्ध को बदलकर कैवल्योपनिषद् में कहा है—"प्राणिमात्र में स्थित परमात्मा को और परमात्मा में प्राणिमात्र को स्थित देखनेवाला ही परब्रह्म को प्राप्त होता है।"[1] 'परमात्मा में सबको और सबमें परमात्मा को देखनेवाले को परब्रह्म प्राप्त होता है' इस कथन से स्पष्ट है कि लब्धा और लब्धव्य का अन्तर प्रत्येक अवस्था में बना रहता है।

शांकरभाष्य में **'समदर्शनः'** का अर्थ करते हुए लिखा है कि "ब्रह्म से लेकर पशु-पक्षीपर्यन्त जितने प्राणी हैं, उनमें ब्रह्म और जीव की एकता का दर्शन करना 'समदर्शन' कहाता है।"[2] इस श्लोक के माध्यम से जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करना गीताकार को अभिप्रेत नहीं है। ऐसा होता तो इसी अध्याय के ३३वें श्लोक में समता को योग न कहा जाता।[3] यहाँ समता का अर्थ एकत्व नहीं, सब भूतों में समदृष्टि और परमेश्वर की एकरस व्यापकता है। इस प्रकार की समता हो जाने पर भी परमात्मा और जीवात्मा की सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है—**'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।'**

शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में 'आत्मौपम्येन' इत्यादि (६।३२) की व्याख्या करते हुए लिखा है—"जो मनुष्य यह समझ जाता है कि जैसे मुझे अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख होता है,[4] वैसे ही दूसरों को भी अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख होता है, वह

१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
२. सर्वेषु ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु विषयेषु सर्वभूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्व-विषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्र समदर्शनः।
३. योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
४. अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।

किसी के प्रतिकूल आचरण नहीं करता।"[1] बुद्ध को वैदिक अथवा औपनिषदिक सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का अस्तित्व मान्य नहीं था। कम-से-कम यह तो उसने स्पष्ट ही कह दिया है कि आत्मविचार की व्यर्थ उलझन में नहीं पड़ना चाहिए।[2] तथापि बौद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते समय उन्होंने आत्मौपम्य दृष्टि अपनाने पर ही बल दिया। उन्होंने कहा—"जैसा मैं, वैसे ये; जैसे ये, वैसा मैं—इस प्रकार अपनी उपमा समझकर न तो (किसी को) मारे, न मरवाये।"[3] धम्मपद में

---

१. यथा मम सुखमिष्टं तथा सर्वप्राणिनां सुखमनुकूलम्। यदि वा यच्च दुःखं मम प्रतिकूलमनिष्टं तथा सर्वप्राणिनां दुःखमनिष्टं प्रतिकूलमित्येवात्मौपम्येन सुखदुःखे। अनुकूलप्रतिकूले तुल्यतया सर्वभुतेषु समं पश्यति न कस्यचित् प्रतिकूलमाचरति।—गीता—शांकरभाष्य

२. गीतारहस्य, पृष्ठ ३८७

३. यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहम्।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्यं न घातये॥—सुत्तनिपात, नालकसुत्त २७

द्रष्टव्य— न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एवं संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्त्तते॥
—महा० अनु० ११३।६

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति॥
यथा परः प्रक्रमते परेषु तथा प्रक्रमन्तेऽपरस्मिन्।
तथैव तेषूपमा जीवलोके यथा धर्मो निपुणेनोपदिष्टः॥
—महा० अनु० ११३।९, १०

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्न प्रियमात्मनः॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मानि चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥
—महा० शान्ति० २५८।१९, २१

तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि॥
—महा० शान्ति० १६७।९

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
—महा० शान्ति० २३८।२२

दो बार (१२९ व १३०) इस श्लोक का दूसरा चरण ज्यों-का-त्यों आया है।

प्राणिमात्र में आत्मौपम्यबुद्धि के तत्त्व से व्यावहारिक नीतिधर्म की जैसी अच्छी उपपत्ति लगती है, अन्य किसी भी तत्त्व से नहीं लगती। आत्मौपम्य दृष्टि आत्मैवाभूत, सर्वभूतात्मैक्य अथवा साम्य-बुद्धि का रूपान्तर है। मायावादियों ने गीता के इस श्लोक के सर्वथा स्पष्ट आशय को बदलकर इसके आधार पर जीव-ब्रह्म की एकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। उपनिषद् के अनेक वाक्यों को उनके सन्दर्भ से काटकर मधुसूदन ने उन्हें अपने भाष्य में उद्धृत करके जीव-ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित करने की विफल चेष्टा की है। इस श्लोक में जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने के लिए अर्थाभास करने की भी गुंजाइश नहीं है। इसलिए अद्वैतवाद के शंकर जैसे प्रबल पोषक भी इस श्लोक का समस्त प्राणियों में आत्मवत् समतापरक अर्थ करके रह गये। यदि मधुसूदनादि की व्याख्या को ठीक मान लिया जाए तो श्लोक में आये **'समं पश्यति'** का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता। द्वैतभाव का अवसान होने पर जब दूसरा कोई रहा ही नहीं, तब कौन किसे **'आत्मौपम्येन'** देखकर उसके सुख-दुःख को अपने जैसा सुख-दुःख समझेगा ? वस्तुतः इससे पहले के तीन श्लोकों में **'सर्वभूतस्थमात्मान-मीक्षते', 'यो मां पश्यति'** तथा **'सर्वभूतस्थं मां भजति'** शब्दों में द्रष्टा एवं दृश्य तथा उपासक एवं उपास्य का स्पष्ट उल्लेख होने से ईश्वर तथा जीव का पार्थक्य तथा 'सबको अपने जैसा' कहने से जीवों का नानात्व सर्वथा सिद्ध है।

किन्तु शंकराचार्य का **'एकमेवाद्वितीयम्', 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति', 'एकोऽहं बहु स्याम', 'नेह नानास्ति किंचन', 'तत्त्वमसि'** आदि का विवेचन मात्र बुद्धिविलास है। उनका विश्वात्मवाद, ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद बातों तक सीमित है। व्यवहार में उन्होंने उसे कभी सत्य नहीं माना। यदि ऐसा न होता तो समस्त जगत् को ब्रह्म का रूप माननेवाले शंकर और तदनुयायी रामानुज, मध्व, वल्लभाचार्य आदि ने नारी तथा शूद्रों के विषय में जो कुछ लिखा है, कभी न लिखते। सब भूतों में ब्रह्म को और ब्रह्म में भूतमात्र को देखनेवाले शंकर शूद्र और नारी में विद्यमान ब्रह्म को न देख सके। उन्होंने नारी

को नरक का द्वार[1] और शूद्र को चलता-फिरता श्मशान घोषित किया।[2] शंकर इतना भी न समझ सके कि सर्वव्यापक होने से परमात्मा का नरक में भी वास है और श्मशान में तो स्वयं शंकर ही रहते हैं। तब नरक और श्मशान से घृणा कैसी ? यह कैसा समदर्शन है जो गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनियों, भारती जैसी विदुषियों तथा सीता-सावित्री जैसी सती-साध्वी देवियों और सबसे बढ़कर अपनी जन्मदात्री में पवित्रता के दर्शन न कर सका ? सच तो यह है कि आरोपित वस्तु वास्तविकता से दूर होती है, अतः वह हृदय की गहराई तक नहीं पहुँच पाती, वाणी में ही समाहित रहती है।

२७. विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥—५।१८

प्रभु को सर्वत्र विद्यमान जाननेवाला मनुष्य विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल आदि सबमें समरूप से अवस्थित प्रभु का प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ सबको समान दृष्टि से देखता है। गौ, हाथी, कुत्ता सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। उन्हें एकरूप मानना मूर्खता होगी, क्योंकि जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा ही मानना विद्या है, इसके विपरीत अविद्या है। वस्तुतः यह औपचारिक कथन है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जीवों में ऊँच-नीच राग-द्वेष-बुद्धि नहीं रखते वे **'तद्बुद्धयस्तदात्मानः'** इत्यादि (५।१७) श्लोक में कथन की गई बुद्धिवाले होते हैं, अर्थात् जिनकी बुद्धि परमार्थतत्त्व में रँग जाती है, जिनका अन्तःकरण वहीं रम जाता है और जो तन्निष्ठ तत्परायण हो जाते हैं, उनकी आत्मरति को छोड़कर किसी में राग-द्वेष की बुद्धि नहीं रहती, ऐसे ही लोग समदर्शी कहाते हैं।

शंकराचार्य के प्रमुख शिष्य समदर्शी का अर्थ करते हैं कि "जैसे गंगाजल, तालाब के जल, मदिरा और मूत्र में जो प्रतिबिम्बित सूर्य है, उसका इन वस्तुओं के गुण-दोष से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म का, जो चिदाभास द्वारा प्रतिबिम्बित है, उपाधि के गुणदोषों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।"[3] इस भाव से जो समदर्शी हैं, उनकी

१. **द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी।**—प्रश्नोत्तरी
२. **पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रः।**—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य १।३।३८
३. **यथा गङ्गातोये तडागे सुरायां सूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्यादित्यस्य न तद्गुण-दोषसबन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वाराप्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुण-दोषसबन्धः।**

दृष्टि में ब्राह्मण, गौ, कुत्ते आदि में सर्वत्र ब्रह्म ही के जीवभाव को प्राप्त होने से कोई अन्तर नहीं रहता। अर्थात् ऊँच-नीच योनियों में प्रविष्ट होकर ब्रह्म ही जीवरूप हो रहा है। इस श्लोक में गीताकार का यह भाव कदापि नहीं हो सकता। प्रथम तो ब्रह्म के जन्म-मरण के बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर, यदि नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्त स्वभाववाला ब्रह्म जीव बनने लगे तो उसकी नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तता का क्या अर्थ रहेगा ? साथ ही वेदान्तदर्शन के समग्र की कार्यरूप में प्राप्ति अथवा ब्रह्म को निरवयव बतानेवाले शब्द का विरोध होगा।[1] यदि सारा ब्रह्म जीव बन जाएगा तो ब्रह्म का अवसान हो जाएगा। और यदि ब्रह्म के अंश भिन्न-भिन्न जीवों के भावों को धारण करेंगे तो ब्रह्म निरवयव नहीं रहेगा।

वस्तुतः क्लेशकर्मविपाकाशय से रहित, सच्चिदानन्द ब्रह्म के अकारण ही दुःख भोगने के लिए विभिन्न योनियों में शरीर धारण करने और इस प्रकार जन्म-मरण के बन्धन में पड़ने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यहाँ समदर्शी का वह अर्थ नहीं हो सकता जो शंकराचार्य और उनके शिष्य आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। गाय, हाथी आदि के रूप में ब्रह्म कभी नहीं आता।

२८. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥—१०।२०

यहाँ **'आदि'** पद से सृष्टि की उत्पत्ति, **'मध्य'** से स्थिति तथा **'अन्त'** से विलय अभिप्रेत है। इस श्लोक में कहा गया है कि सम्पूर्ण संसार का अधिष्ठान परमात्मा है। उसी के द्वारा चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती है। इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में विशदरूप में इन शब्दों में कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते, उत्पन्न होकर जिसके आश्रित जीते और अन्तकाल में जिसमें विलय होते हैं, उसको जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (१।१।१) जब ब्रह्म को जानने की इच्छा की तो सूत्रकार ने जिज्ञासु

---

१. **कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयत्वशब्दकोपो वा।**—वे० द० २।१।२६

को ब्रह्म का परिचय यही कहकर दिया—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) कि जिससे इस जगत् की उत्पत्त्यादि (उत्पत्ति—स्थिति—प्रलय) होती है। इसी विषयवाक्य के आधार पर प्रस्तुत श्लोक कथन किया गया है।

२९. अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥—१०।४२

३०. तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥—११।१३

परमेश्वर की विभूति का वर्णन यजुर्वेद ३१।३; ऋग्वेद १०।९०।३ तथा अथर्व १९।६।३ में इस प्रकार किया है—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** अर्थात् यह सम्पूर्ण संसार परमेश्वर का एक अंशमात्र है—**'एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः'**—यह संसार जिसकी महिमा है, वह तो इससे कहीं अधिक महान् है। वह तो **सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्** है। (ऋ० १०।९०।२); वह ब्रह्म तो **विश्वतश्चक्षुः, विश्वतो मुखः, विश्वतो बाहुः, विश्वतस्पात्** (ऋ० १३।२।२६) है; **सर्वतोमुखः** (यजु० ३२।४); **सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्** (श्वेत० ३।१६) है। उसके अनन्त सामर्थ्य की तुलना में उसका एक अंश कितना तुच्छ होगा ! स्थावर-जंगमरूप में विद्यमान ये समस्त भूत परमेश्वर का एक पाद है, उसके तीन पाद अपने अविनाशी प्रकाशस्वरूप में विद्यमान हैं। पद, पाद, अंश एकार्थ-वाची हैं। यहाँ 'एकपाद' या 'तीन पाद' किसी नियत परिमाण के द्योतक नहीं हैं, क्योंकि जिसके विषय में यह कहा गया है, वह निरवयव अखण्ड ब्रह्म है। मनुष्य ब्रह्माण्ड को भी नहीं देख पाता, उसके केवल एक अंश का ही प्रत्यक्ष कर पाता है किन्तु इस थोड़े-से अंश से ही चमत्कृत होकर उसके स्रष्टा की अनन्तता का आभास पा लेता है। गीता के उपर्युक्त श्लोकों में कहा गया है कि परमात्मा कार्यकारणरूप इस विशाल जगत् को अपने सामर्थ्य के अंशमात्र से धारण किये हुए है। 'एकपाद' जगत् का चतुष्पाद ब्रह्म के साथ तादात्म्य कैसे सम्भव हो सकता है ? वस्तुतः ब्रह्म से जगत् तथा जगत् से ब्रह्म सर्वथा भिन्न हैं। उनमें व्याप्य-व्यापक, अथवा आधाराधेय सम्बन्ध अवश्य है।

परिशिष्ट

व्यवहार व परमार्थ

शांकर वेदान्त में तीन प्रकार की सत्ता मानी जाती है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक। जिस वस्तु का अस्तित्व त्रिकालाबाधित हो, वह पारमार्थिक सत्ता है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है। किसी एक अधिकरण में अन्य वस्तु तथा उसके धर्मों का आभास होना प्रातिभासिक सत्ता है। प्रातिभासिक अथवा भ्रमात्मक सत्ता में सार्वभौमिकता नहीं होती। वह किसी-किसी को किसी-किसी अवसर पर उदय होती है। इसमें क्रियात्मक क्षमता नहीं होती। प्रतीतिरूप सत्ता का भ्रमात्मक भाव इसके अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाता है। जगत् ऐसी ही सत्ता है। जिसका अस्तित्व संसारदशा में व्यवहार के लिए सत्य माना जाता है, वह व्यावहारिक सत्ता है। मिथ्या तथा स्वप्नजगत् की अपेक्षा व्यावहारिक जगत् सत्य है। वह आत्माओं का जगत् है, किन्तु यथार्थ में इसका मूल ब्रह्म में है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर इस प्रकार की असत्य भावना का नाश हो जाता है।[1]

वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ दोनों ही यथार्थ अथवा सत्य हैं। व्याप्य-व्यापक भाव से जीव, प्रकृति और ब्रह्म सभी की अपनी-अपनी सत्ता है। हम परमार्थ का निषेध नहीं करते, जहाँ मनुष्य का अनुभव लोक से भिन्न होगा। व्यवहार तथा परमार्थ के प्रत्ययों में इतना भेद है कि व्यवहार में हमारा अनुभव ज्ञानेन्द्रियों पर आश्रित है, जबकि भौतिक बन्धनों से मुक्त योगी अपनी चित्-शक्ति से बहुत-कुछ जान लेता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यवहार-जगत् में प्राप्त उसके अब तक

---

१. तुलना करें—माण्डूक्य पर शांकरभाष्य के सम्बन्ध में आनन्दगिरि की टीका —**ब्रह्मण्येव जीवो जगदीश्वरश्चेति सर्वं काल्पनिकं सम्भवति।**

के अनुभव सभी मिथ्या थे। यह सत्य है कि यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेने पर ब्रह्म में अवस्थित जीवात्मा भौतिक पदार्थों को तुच्छ समझने लगता है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि आनुभविक जगत् मिथ्या या भ्रम है। जिस प्रकार बड़ा होने पर बालक खिलौनों से खेलना छोड़ देता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त अथवा मुक्तात्मा के लिए प्राकृत पदार्थों का उपयोग न रहने पर वह उनका परित्याग कर देता है। परन्तु बालक के खिलौनों से खेलना छोड़ देने पर भी खिलौनों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। जिनसे वह अब तक खेलता रहा था, उन्हें मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: वे खिलौने तब भी अपनी जगह बने रहते हैं और दूसरे बालकों के काम आते हैं। इसी प्रकार योगी के लिए भले ही आनुभविक जगत् का मूल्य न रहे, अन्य जीवों के लिए वह अपने यथार्थ रूप में ज्यों का त्यों बना रहता है।

परमार्थ जगत् इस अर्थ में परमार्थ नहीं है कि वहाँ सब-कुछ अपना अस्तित्व खोकर एकत्व में परिणत हो जाता है। वह केवल इस अर्थ में परमार्थ है कि वह व्यवहार-जगत् से भिन्न है। परमार्थ में अवस्थित आत्मा को प्राप्त आनन्द भी व्यवहार-जगत् में प्राप्त आनन्द से भिन्न होता है। किन्तु इससे उसके इस लोक में प्राप्त आनन्द का प्रत्याख्यान नहीं हो जाता। उससे अवर श्रेणी के जीवों के लिए व्यवहार-जगत् अपने स्वरूप में यथावत् बना रहता है।

कारण और कार्य दोनों अपनी-अपनी जगह सत्य हैं। सोना और उससे बने आभूषण दोनों ही देखने में आते हैं। कारणरूप में होने से सोना परमार्थ में सत्य और नामरूप पाने से व्यवहार में आनेवाले आभूषण मिथ्या नहीं हो जाते। वास्तव में आभूषणों का मूल्य कुछ अधिक ही होता है। रूपान्तर हो जाने से कोई अपना अस्तित्व खोकर मिथ्या नहीं हो जाता। जल वाष्प बनकर उड़ जाए तो भी वह 'जल-रूप में असत् या मिथ्या था' ऐसा नहीं माना जा सकता। कारण का रूपान्तरमात्र कार्य है, अत: वह उतना ही सत्य है जितना स्वयं कार्य।

सत्य की अपेक्षा से ही मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। मायावादियों के कथनानुसार यदि सब संसार मिथ्या ही मिथ्या होता—सत्य नाम की कोई वस्तु होती ही नहीं—तो हम व्यवहार-दशा में भी किसी को सत्य न कह सकते। जब हम सहस्रों बार दूर से जलाशय को देख वहाँ जाकर जल प्राप्त कर लेते हैं, तभी कभी-कभी बालू को देखकर जल

की भ्रान्ति होती है। मिथ्याज्ञान की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ भी सत्य की अपेक्षा से हैं। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में निरन्तर उन नियमों की खोज होती रहती है, जिनके द्वारा पदार्थों के यथार्थस्वरूप को जाना जा सके। इसलिए व्यवहार-दशा की सभी वस्तुओं को मिथ्या नहीं माना जा सकता।

यदि यह संसार सचमुच मिथ्या हो तो उस व्यक्ति को, जिसे उसके मिथ्या होने का ज्ञान हो चुका है, उसे उसकी विद्यमानता का आभास नहीं होना चाहिए। कोई भी समझदार व्यक्ति मदारी के तमाशे को देखकर भ्रमित नहीं होता। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने का ज्ञान और उसके यथार्थ न होने का ज्ञान एकसाथ नहीं रह सकते। भ्रम कभी-कभी, किसी-किसी को होता है। इसलिए संसार की यथार्थताविषयक विश्वास को देखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि उसकी प्रतीति या भ्रान्ति अज्ञान के कारण है। संसार को बार-बार मिथ्या कहते जाने का क्या लाभ, जबकि कितना ही प्रयास करने पर भी हम उसका लोप नहीं कर सके!

परन्तु तर्कप्रतिष्ठित न होने पर भी संसार के मिथ्या होने की बात जाने-अनजाने हमारे मुँह से निकलती रहती है। इसका कारण है—कार्य और कारण दोनों के सत्य होने पर भी कार्य की अपेक्षा कारण का अधिक सत्य अर्थात् स्थायी होना। स्वर्ण से बने आभूषण की अपेक्षा उसका उपादान स्वर्ण अथवा घड़े की अपेक्षा उसका उपादान तत्त्व मिट्टी निश्चय ही अपने स्वरूप में अधिक स्थायी हैं, क्योंकि आभूषण अथवा घड़े के अपना नामरूप खो देने पर स्वर्ण और मिट्टी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि आभूषण तथा घड़ा मिथ्या हैं, जबकि स्वर्ण और मिट्टी सत्य हैं। इस प्रकार अधिक स्थायित्व को सत्य का आधार या उसकी कसौटी मान लेने पर ऐसे किसी भी पदार्थ को सत्य नहीं कहा जा सकता जिसकी सत्ता देश-काल तथा कार्य-कारण के अधीन हो। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कार्यरूप होने से आभूषण अथवा घड़ा मिथ्या हैं। निश्चय ही इनमें स्वर्ण तथा मिट्टी की अपेक्षा कुछ वैशिष्ट्य है। ऐसा न होता तो स्वर्ण तथा मिट्टी-उपादान से बनी विभिन्न वस्तुओं में भेद क्यों किया जाता? इसी प्रकार निमित्तकारण के रूप में नित्य, किन्तु अपरिणामी, परमेश्वर तथा उपादानकारण के रूप में

नित्य, किन्तु परिणामी, प्रकृति की अपेक्षा से नित्य परिवर्त्तनशील जगत् को मिथ्या कहा जा सकता है। तदपि यह कथन मात्र औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं।

शरीर तथा संसार दोनों 'सत्' हैं, इसलिए न शरीर की उपेक्षा करनी चाहिए, न संसार की। परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न संसार, इसलिए न शरीर को सब-कुछ माना जाना चाहिए, न संसार को। उपनिषदों के ऋषियों ने शरीर को 'सत्' माना, किन्तु आत्मा की दृष्टि से और उसकी अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। इसी प्रकार उन्होंने संसार को 'सत्' माना, किन्तु विश्वात्मा की दृष्टि से और उसकी अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शरीर और संसार दोनों के सत् होते हुए भी उनका सत् आत्मा और परमात्मा की अपेक्षा घटिया स्तर का है।

लोक में जब हम अपनी बोलचाल में संसार के लिए मिथ्या या माया शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारी भावना जीवन की असारता का व्यक्त करने की होती है। समस्त संसार परिवर्त्तन, ह्रास तथा मृत्यु से आक्रान्त है, अपनी इसी भावना से उद्वेलित होकर हम कह उठते हैं कि नामरूपात्मक जगत् अन्तिम सत्य नहीं है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करनेवाले की मूल भावना कुछ ऐसी ही रही होगी कि जगत् है तो सत्स्वरूप, किन्तु सत्स्वरूप होने पर भी सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा से मिथ्या है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि जगत् स्वरूप से अथवा परमार्थ में असत् या मिथ्या है। 'मिथ्या' विशेषणपद है, 'जगत्' उसका विशेष्य है। विशेष्यरूप में जगत् है तभी उसके मिथ्या कहे जाने की सार्थकता है। जगत् की सत्ता न हो तो उसे सदसत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः विशेष्य के बिना विशेषण की कल्पना नहीं की जा सकती।

विवर्त्त-अध्यास-भ्रान्ति

जगत् का उपादान माने जाने पर ब्रह्म विकारी सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। शंकराचार्य से परवर्ती विद्वानों ने एक पारिभाषिक पद विवर्त्त का उद्भावन किया जिससे ब्रह्म को परिणामी या विकारी होने से बचाया जा सके। शंकर ने 'विवर्त्त' पद का प्रयोग तो किया, किन्तु उनके समय में ऐसी किसी पारिभाषिकता का अस्तित्व न था।

विवर्त्तोपादान की मान्यता के अनुसार इस तथाकथित जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जो कुछ दीखता है, वह सब मिथ्या है। हमें यह नहीं कहना चाहिए कि परमात्मा अपने-आपको जगद्रूप में परिणत कर लेता है। वह वस्तुओं को उत्पन्न करता है, ठीक वैसे ही जैसे एक रज्जु सर्प का रूप धारण कर लेती है, किन्तु यथार्थ में वह सर्प नहीं होती।[1] वह केवल माया के द्वारा अनेक रूप में परिणत प्रतीत होता है, अपने-आपमें नहीं।[2] अतएव जगत् का अस्तित्व उन्हीं लोगों के लिए है जो अविद्या के प्रभाव में हैं, जैसेकि कल्पनात्मक सर्प ऐसे ही मनुष्यों के लिए है, जिन्हें अँधेरे के कारण रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है। न होते हुए जगत् दिखाई पड़ता है—वास्तव में यह न पहले था, न अब है और न आगे कभी होगा। उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीतिमात्र हैं। वास्तव में न कुछ उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है।[3] इस प्रकार, जैसे रस्सी में किसी प्रकार का विकार आये बिना रस्सी का साँप बन जाता है, वैसे ही ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार आये बिना वह जगद्रूप हो जाता है। जब न कुछ उत्पन्न होता है, न विनष्ट, तब ब्रह्म में किसी प्रकार के विकार का प्रश्न ही नहीं उठता।

जहाँ किसी वस्तु का अन्य वस्तु हो जाना 'परिणाम' है, वहाँ किसी वस्तु का अन्य वस्तु न होने पर भी वैसा समझा जाना 'विवर्त्त' है। जब दूध दही का रूप धारण करता है तो वह परिवर्त्तन अथवा परिणाम कहाता है और जब रस्सी साँप के रूप में प्रतीत होती है तो वह आभास या विवर्त्त कहाता है। परिणाम में वस्तु बदल जाती है, विवर्त्त में वस्तु बदलती नहीं, किन्तु द्रष्टा को अन्यथा प्रतीत होती है। विवर्त्त का कारण 'अध्यास' अथवा 'अध्यारोप' है। किसी तत्त्व में वे धर्म बताना जो उसके न हों और इसके परिणामस्वरूप जहाँ जो वस्तु नहीं है, उसकी प्रतीति करना 'अध्यास' कहाता है, जैसे रज्जु में सर्प की, सीप में चाँदी की अथवा बालू में जल की प्रतीति करना। दूसरे शब्दों में यह 'अन्यथाख्याति' अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य की प्रतीति है। यह ऐसा ज्ञान है जिसका कालान्तर में प्रत्याख्यान हो जाता है। इसलिए यह अज्ञान या मिथ्याज्ञान है। प्रचलित भाषा में इसे भ्रम या भ्रान्ति कहते हैं।

---

१. गौडपादीय कारिका ३।२७; २।१७ २. वही ३।२७ ३. वही २।३२

शंकराचार्य ने रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से विश्व की पहेली को सुलझाने का प्रयास किया था। परन्तु सुलझने के स्थान पर यह समस्या और उलझकर रह गई। वस्तुतः अध्यास के स्वरूप को न समझने के कारण ही इस दृष्टान्त का दुरुपयोग हुआ है। **'स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः'**—अध्यास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति तथा परत्र। हमने कभी वास्तविक सर्प को देखा—यह हमारा 'पूर्वदृष्ट' है। हमारे भीतर उसका संस्कार रहा जो समय पाकर 'स्मृतिरूप' होकर आ गया। वर्त्तमान में प्रस्तुत रज्जु 'परत्र' है जिसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सर्प का आभास हुआ। रज्जु में सर्प का भ्रम तभी सम्भव है जब देखनेवाले ने, वहाँ न सही, कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी, वास्तविक सर्प देख रक्खा हो। तब सर्प को असत् या अवस्तु नहीं माना जा सकता। यदि कभी-न-कभी और कहीं-न-कहीं सर्प का सद्भाव न होता तो 'नासतो विद्यते भावः' इस न्याय के अनुसार कहाँ से आ जाता ? तब न उसका संस्कार रहता और न उसकी स्मृति। अध्यास के विषय में और चाहे कहीं भी मतभेद हो, एक बात में सर्वत्र सहमति है कि अन्य में अन्य की प्रतीति अध्यास है[1]—**'सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति'** (शा० भा० १।१।१)। यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उससे अन्य कुछ है ही नहीं तो 'अन्य में अन्य का आभास' आदि कथन कैसे किया जा सकता है ? 'कुछ' का 'कुछ' तबतक नहीं दीख सकता जबतक 'दो कुछ' न हों। रज्जु में सर्प का अध्यास या आभास तभी सम्भव है जब रज्जु और सर्प दोनों की सत्ता को एक-दूसरे से भिन्न अथवा पृथक् तथा एक समय में वर्त्तमान होना स्वीकार किया जाए। एक समय में वर्त्तमान दो पृथक् सत्ताओं के बिना अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता ही नहीं तो अध्यास का अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों ब्रह्म ही होगा, अर्थात् ब्रह्म में ब्रह्म का आभास होगा और तब वह जगद्रूप में भासेगा। पर स्वयं आभासित होकर वह अपने स्वरूप से अर्थात् ब्रह्मरूप से भासना चाहिए, जगद्रूप से नहीं। इतना ही नहीं, अन्य का अन्य में आभास पानेवाला—भ्रमित होनेवाला द्रष्टा भी होना चाहिए। इस प्रकार अध्यास की प्रक्रिया को

---

१. **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम।**—शा० भा० उपोद्घात

पूरा करने के लिए अध्यस्त पदार्थ, अध्यास का अधिष्ठान और अध्यास करनेवाला—इन तीन सत्ताओं का होना अनिवार्य है। रज्जु-सर्प का दृष्टान्त, ब्रह्म को एकमात्र सत्ता मानने पर, जगत् का ब्रह्म में अध्यास सिद्ध करने के लिए उपयुक्त नहीं ठहरता।

जब हम किसी वस्तु का, उसे अयथार्थ कहकर, निराकरण करते हैं तो हम ऐसा किसी अन्य यथार्थ सत्ता के सम्बन्ध से ही करते हैं। भावात्मक के सन्दर्भ में ही हम अभावात्मक को नकारते हैं। स्वप्न अथवा भ्रान्तिस्थलों में भी प्रतीत का कारण अथवा उसका आधार अवास्तविक नहीं हो सकता। जबतक वास्तविक सर्प का ज्ञान नहीं होगा तबतक रज्जु में उसकी प्रतीति होना असम्भव है। जहाँ हमने भ्रमवश सर्प को समझा है, वहाँ यदि वह नहीं है तो, इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उसका वास्तविक अस्तित्व कहीं भी नहीं है। दृश्यमान जगत् को मिथ्या अथवा अध्यास सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि पहले कहीं-न-कहीं वास्तविक जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया जाए जिसका कभी-न-कभी प्रत्यक्ष हुआ हो, फिर उसकी स्मृति रही हो और वर्त्तमान में उसका परत्र हो। यदि कभी कहीं वास्तविक जगत् था ही नहीं तो वह पूर्वदृष्ट नहीं हो सकता। पूर्वदृष्ट न होने पर न उसकी स्मृति रहेगी और न स्मृति के अभाव में परत्र में पूर्वदृष्ट का अध्यास हो सकेगा। रज्जु में आभासित सर्प रज्जुस्थल में न होते हुए भी अन्यत्र विद्यमान रहता है। क्या इसी प्रकार ब्रह्म में अध्यस्त या आभासित जगत् की सत्ता अन्यत्र रहती है ? यदि रहती है तो ब्रह्मातिरिक्त जगत् की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि नहीं रहती तो सर्वथा असत् का आभास कैसे सम्भव है ?

शंकराचार्य के अनुसार "यह अध्यास मिथ्या है, किन्तु अनादि-अनन्त है। इसी से मनुष्य की कर्तृत्व और भोक्तृत्व में प्रवृत्ति है।"[1] जो मिथ्या है, वह अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य कैसे हो सकता है ? और जो अनादि-अनन्त होने से तीनों काल में विद्यमान है—जिसका कभी प्रत्याख्यान नहीं होता—वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? और यदि अध्यास के कारण ही मनुष्य की कर्तृत्व और भोक्तृत्व में प्रवृत्ति है तो अध्यास के नित्य होने से कर्तृत्व और भोक्तृत्व में प्रवृत्ति

१. एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्त्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।—शा० भा० १।१।१

सदा बनी रहेगी। अध्यास नैसर्गिक है तो तज्जन्य प्रवृत्ति भी नैसर्गिक होगी। इस प्रकार भोक्तृत्व में मनुष्य की प्रवृत्ति अनादि, अनन्त एवं नैसर्गिक होने से वह कभी भी बन्धन से मुक्त होकर मोक्षलाभ न कर सकेगा। तब एतदर्थ किया जानेवाला प्रयत्न व्यर्थ होगा।

फिर अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक व्यवहार में अध्यास की सिद्धि कैसे होगी ? अध्यास के अनन्त होने का अर्थ है कि रस्सी में साँप की, सीप में चाँदी की और बालू में जल की प्रतीति सदा बनी रहेगी। दीपक तो क्या, सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में भी उनका अध्यस्तरूप ही दीखेगा। तब यह कैसे सिद्ध होगा कि यह वस्तुतः रस्सी है, साँप नहीं; सीप है, चाँदी नहीं; बालू है जल नहीं, क्योंकि जब भी देखेंगे, अध्यास के अनन्त होने से वे सदा साँप, चाँदी और जल ही दीखेंगे। और जब यही बात ब्रह्म और जगत् को लक्ष्य करके कही जाएगी तो इसका अर्थ होगा कि ब्रह्म में जगत् की प्रतीति सदा बनी रहेगी। और जब अध्यास के कारण ही सही, जगत् अनादि और अनन्त हो जाएगा तो वह मिथ्या न रहकर ब्रह्म के सदृश सत्य और नित्य हो जाएगा, क्योंकि उस अवस्था में ब्रह्म में जगत् की प्रतीति त्रिकालाबाधित होने से प्रतीति या आभास न रहकर सत्यज्ञान में परिवर्त्तित हो जाएगी।

भ्रान्ति का होना अपने-आपमें इस बात का प्रमाण है कि कहीं-न-कहीं सम्यक् ज्ञान का अस्तित्व है। यदि सम्यक् ज्ञान न हो तो भ्रान्ति भी कभी न हो। यथार्थज्ञान के बिना भ्रान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। मृगतृष्णिका की प्रतीति बताती है कि कहीं सचमुच का जल भी होता है। मिथ्याज्ञान के लिए दो भिन्न पदार्थों और उनके समान धर्मों का ज्ञान होना आवश्यक है। जबतक बाह्यरूप में समान धर्मों की सम्भावना न हो, तबतक दो पदार्थों के विषय में मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता। रज्जु का आकार और उसकी कुण्डलियों का भाव अथवा सीप में चमक सत्य न हों तो उनमें सर्प या चाँदी का आभास या अध्यास न हो सके। वस्तुतः रज्जु और सीप भी सत्य हैं और सर्प व चाँदी भी सत्य हैं—एक प्रत्यक्ष में, दूसरी देशान्तर में। असत्य है केवल रज्जु में सर्प की और सीप में चाँदी की प्रतीति, जो किञ्चित् साधर्म्य के कारण है। ब्रह्म भी सत्य है और जीव तथा जगत् भी सत्य हैं। किञ्चित् साधर्म्य और अधिकांश वैधर्म्य के होते हुए भी ब्रह्म में

जीव और जगत् का अथवा जीव और जगत् में ब्रह्म का अध्यारोप करना मिथ्या है।

भ्रम किसी को, किसी में, किसी का, किसी कारण से होता है, जैसे—देवदत्त को, रस्सी में, साँप की, झुटपुटे में भ्रान्ति होती है। अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त कोई और सत्ता है नहीं। इसलिए उनकी मान्यता के अनुसार तो ब्रह्म को, ब्रह्म में, ब्रह्म का भ्रम होगा। सर्वज्ञ ब्रह्म अपने-आपको न पहचान पाए और अपने-आपको जीव और जगत् समझने लग जाए—इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? फिर भ्रम न प्रकाश में होता है, जब सब-कुछ ठीक-ठीक दीख पड़ता है और न अन्धकार में, जब बिल्कुल दिखाई नहीं देता। उसके लिए प्रकाश और अन्धकार का मेल—झुटपुटा चाहिए। इसलिए स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म भ्रम का आश्रय नहीं हो सकता। भ्रम न सर्वज्ञ ब्रह्म को हो सकता है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति को। केवल अल्पज्ञ जीव ही इसका शिकार हो सकता है।

ज्ञानप्राप्ति में साधनरूप ज्ञानेन्द्रियों के अस्तित्व से ज्ञेय पदार्थों की अनिवार्यता स्वतःसिद्ध है। यदि प्रमेय पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है तो उन्हें देखने-सुनने आदि के निमित्त ज्ञानेन्द्रियों की क्या आवश्यकता थी ? रज्जु को सर्परूप में दिखाने के समान पदे-पदे हमें धोखा देने के लिए आँखें दी गई हों, जिन शब्दों का कोई अस्तित्व नहीं है उन्हें सुन-सुनकर हमें बहकाने के लिए कान दिये गये हों—प्राणिमात्र के हितैषी, दयालु तथा न्यायकारी परमेश्वर से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यदि दृश्यमान जगत् में किसी पदार्थ की यथार्थ सत्ता नहीं है तो इसमें सौ वर्ष तक जीने और मिथ्या पदार्थों को देखते-सुनते रहने की प्रार्थना क्यों की जाए ? अन्धे व्यक्ति को किस बात का दुःख हो ? जो यथार्थ में है नहीं, उसे देखकर ही क्या करना था ? परन्तु हम अनुभव से जानते हैं कि पीलिया हो जाने पर हमारी आँखें सब पीला-ही-पीला देखती हैं। हम यथार्थ में और मिथ्या में भेद स्वीकार करते हैं। इसीलिए आँखों की चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं जिससे प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थरूप में दिखाई दे। अयथार्थ तो एकसमान है।

स्वप्न

अद्वैत मत में आनुभविक जगत् स्वप्न में देखे-सुने के समान मिथ्या है। गौडपाद का कहना है कि क्या स्वप्न में और क्या जाग्रत् में, जो

भी पदार्थ ज्ञान में आते हैं, वे सब अयथार्थ हैं। हमारा समस्त जीवन जाग्रत् का स्वप्न है। गौडपाद के समान शंकर स्वप्न तथा जाग्रत् के प्रत्ययों को एक-जैसा नहीं मानते। ब्रह्मसूत्र (३।२।३) के भाष्य में उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु गौडपाद की कारिका (२।४) का भाष्य करते समय, गुरुभक्ति के अतिरेक के कारण, वह बहक गये और गौडपाद की लहर में बहकर एक बार फिर वदतो-व्याघात के दोषी हो गये।

जाग्रत् तथा स्वप्न के प्रत्ययों में अन्तर न करनेवाले दार्शनिकों की भर्त्सना करते हुए भास्कर ने लिखा है—"जो जाग्रत् में प्रत्यक्ष पदार्थों को स्वप्न में प्रतीत होनेवाले पदार्थों के समान मिथ्या मानते हैं, वे ब्रह्मसूत्र (३।२।३) के यथार्थ को न समझकर लोगों को धोखा देते हैं।"[1] वस्तुतः तथ्यों को अनदेखा कैसे किया जा सकता है? स्वप्न में अनुभव हुआ कि कोई मुझे पुकार रहा है। हड़बड़ाकर उठ बैठा। द्वार खोलकर देखा तो वहाँ कोई न था। जाग्रत् में ऐसा होने पर पुकारने-वाला प्रायः मिल जाता है। तब गौडपाद का यह कथन कि जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव समान होते हैं, कैसे संगत हो सकता है? स्वप्न में जिन पदार्थों का भान होता है उनका देशान्तर और कालान्तर में अस्तित्व सिद्ध है। जागने पर स्वप्न में हुई प्रतीति का नाश होता है, प्रतीत होनेवाले पदार्थों का नहीं। वे सब अपनी-अपनी जगह बने रहते हैं। निद्रादोष के कारण वे स्वप्नावस्था में अपने पास भासते हैं। **'परत्र परावभासः'** जो पदार्थ जहाँ नहीं है, वहाँ प्रतीत होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह कहीं और कभी नहीं था। जाग्रत् अवस्था में वे पदार्थ सदा सत्यरूप होते हैं। इसलिए स्वप्न में भी अवस्तु में वस्तु का आरोप सिद्ध नहीं होता।

सत्य तो यह है कि जाग्रत् प्रत्ययों की स्मृति से ही स्वप्नों का निर्माण होता है। जाग्रत् का चिन्तन और स्वप्न का ज्ञान दोनों स्मृति-रूप हैं। परन्तु जहाँ जाग्रतावस्था में स्मृति का ज्ञान रहता है, वहाँ स्वप्नावस्था में स्मृत पदार्थ स्मृतिरूप में न आकर अनुभवरूप में आते हैं। स्वप्नज्ञान का यही मिथ्यात्व है कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है और पदार्थों के देश, काल, दशा आदि में उलटफेर हो

१. **ये पुनर्जागरितावस्थायामपि मायामात्रमिति आघोषयन्ति ते सूत्रकाराभिप्रायं नाशयन्तः श्रोत्रियजनं मोहयन्ति।**

जाता है। शंकराचार्य का मत है—**'स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्'** (शा० भा० २।२।२६) अर्थात् स्वप्न में पदार्थों की स्मृति होती है और जाग्रत् में उनका प्रत्यक्ष होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यक्ष के बाद ही स्मृति होती है। जाग्रत्-प्रत्ययों की स्मृति से उत्पन्न होने के कारण स्वप्न-प्रत्यय उनके सदृश प्रतीत होते हैं। स्पष्ट है कि जाग्रत्-प्रत्यय मुख्य हैं, स्वप्न-प्रत्यय गौण। क्योंकि उपमेय से उपमान बड़ा होता है, इसलिए जाग्रत्-प्रत्ययों को देखकर स्वप्न-प्रत्ययों की परीक्षा करनी चाहिए, न कि स्वप्न-प्रत्ययों को देखकर जाग्रत्-प्रत्ययों की। स्वप्न को तराजू मानकर जाग्रत्-प्रत्ययों को उसमें तोलना और इस प्रकार पदार्थमात्र को असत् मान लेना न युक्तियुक्त है और न न्याय्य।

स्वप्न में विषय की प्रतीति स्मृतिमात्र है। उसका निमित्त तीव्र संस्कार हैं। संस्कार के सिवा और किसी निमित्त की कल्पना नहीं की जा सकती। अनुभव से जो संस्कार आत्मा में बैठ जाते हैं, स्वप्नदशा में मन के सहयोग से वही संस्कार स्मृति बनकर आ जाते हैं। स्वप्न-दशा की परिस्थितियाँ जागरित पर निर्भर करती हैं। कभी-कभी स्वप्न में बहुत समय पूर्व देखे, सुने या किये का साक्षात्कार होता है। तब स्मरण नहीं आता कि जो उस समय देखा, सुना या किया था, वही इस समय दिखाई या सुनाई दे रहा है। किन्तु स्मरण न आने से उसका पूर्वदृष्ट, पूर्वश्रुत या पूर्वकृत न होना सिद्ध नहीं होता।

जो कुछ हम देखते, सुनते या करते हैं, उसकी जो छाप रह जाती है उसे 'संस्कार' कहते हैं। जिन संस्कारों से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों के विषय में स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं उन्हें वासना कहते हैं। स्मृति और संस्कार दोनों पहले अनुभव किये हुए पदार्थ के विषय में होते हैं। वह केवल जागरित दशा में ही सम्भव है। स्वप्न में किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती। बृहदारण्यक (४।३।१४) में कहा है—**"यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः"** जाग्रत् में जिन वस्तुओं को देखता है, सोता हुआ उन्हीं को देखता है। इसलिए स्वप्न जाग्रत्-अवस्था में देखे-सुने-किये की स्मृतिमात्र है। स्वप्न में ही नहीं, जाग्रत्-अवस्था में भी जन्मान्ध लाल-पीले का, सुन्दर-असुन्दर का अथवा गधे-घोड़े का चिन्तन नहीं कर सकता, क्योंकि उसे पहले इनका अनुभव नहीं हुआ। मिथ्या की कसौटी सत्य है, अर्थात् जबतक एक

सत्य न हो, तबतक दूसरे को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। स्वप्न में देखे हाथी-घोड़ों को तभी मिथ्या कहा जा सकता है, जब जाग्रत् में देखे हाथी-घोड़ों को सत्य स्वीकार किया जाए। जाग्रत् दशा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, जबकि स्वप्नावस्था जागरित के आश्रित है। इस पराश्रित के आधार पर वस्तुमात्र को मिथ्या घोषित नहीं किया जा सकता। जब जाग्रत्-अवस्था में अनुभव किया गया पदार्थ असत् नहीं हो सकता तो तद्विषयक प्रतीति को असद्विषयक प्रतीति नहीं कहा जा सकता। यदि हमने कभी वास्तविक जगत् न देखा होता तो स्वप्न में भी कभी उसकी प्रतीति न होती।

अविद्या

अद्वैत मत में प्रतीयमान जगत् के अनेकत्व का कारण अविद्या है, परमार्थ में सब एक है।[1] ब्रह्म के भी दो रूप हैं—एक नामरूप विकार-भेद की उपाधिवाला और दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त।[2] परन्तु ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता,[3] क्योंकि उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता।[4] स्वयं उपाधि का कारण अविद्या है।[5] अविद्याविषयक इन परस्पर विरोधी वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं शंकर उसके स्वरूप का निश्चय नहीं कर पाये। शंकर तो इस कठिनाई से अविद्या को अनिर्वचनीय—अव्याख्येय कहकर बच निकलते हैं। परन्तु जिस अविद्या में नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव जैसी सर्वोपरि सत्ता को उपाधिग्रस्त कर अज्ञानी बना देने और अविकारी होते हुए भी जगद्रूप बना देने का सामर्थ्य है, उसे अव्याख्येय कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। जैसे भी हो, उसका ठौर-ठिकाना खोजना होगा। सबसे पहला प्रश्न है कि अविद्या द्रव्य है या गुण?

१. एकत्वं पारमार्थिकं मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्।
—शा० भा० २।१।१४

२. द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।—शा० भा० १।१।११

३. तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म।—शा० भा० २।१।२७

४. न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति।
—तदेव० ३।२।११

५. उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात्।—शा० भा० ३।२।१५

यदि अविद्या द्रव्य है तो उससे द्वैत उपपन्न होगा। यदि गुण है तो जिस द्रव्य के आश्रित है, उसका पता लगाना होगा, क्योंकि द्रव्य के बिना गुण का रहना सम्भव नहीं। वस्तुतः दोनों में आश्रयाश्रयी-सम्बन्ध होने से द्रव्य के बिना गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। चिदाभासरूप जीव स्वयं अविद्या की उपज है। यदि अविद्या न होती तो चिदाभास के रूप में जीवात्मा का अस्तित्व न होता। ऐसी अवस्था में अविद्या को चिदाभास के आश्रित नहीं माना जा सकता। फिर, यदि जीवात्मा को अविद्या से उत्पन्न माना जाए तो आत्माश्रय दोष के कारण हम एक दूषित चक्र में फँस जाएँगे, क्योंकि न अविद्या के बिना जीवात्मा का अस्तित्व होगा और न जीवात्मा के बिना अविद्या का। जब जीव स्वयं अविद्या की उपज है और ब्रह्म से अतिरिक्त कोई चेतन तत्त्व है नहीं तो एकमात्र ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है, किन्तु जो स्वयं नित्य प्रकाशरूप है तथा **'शास्त्रयोनित्वात्'** (वे० द० १।१।३) समस्त ज्ञान का स्रोत है, उसमें अविद्या की कल्पना करना ऐसा ही है, जैसा सूर्य में अन्धकार की सम्भावना।[1] यह कहना कि परिवर्त्तित ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान है, सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि अविद्या के बिना परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

अब प्रश्न उठता है—अज्ञानी होने पर ब्रह्म उपाधिग्रस्त हुआ या उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी, अर्थात् पहले अज्ञान हुआ या उपाधि? यदि ब्रह्म पहले अज्ञानी हुआ तो कहना होगा कि उपाधि के बिना अज्ञानी हो गया। यदि पहले उपाहित अर्थात् उपाधिग्रस्त हुआ तो प्रश्न होगा कि जब उपाधिग्रस्त होने से पूर्व ब्रह्म पूर्णज्ञानी तथा सर्व-शक्तिमान् था तो उपाधि के वश में कैसे आ गया? न उपाधि के वश में होता, न अज्ञानी होकर झंझट में पड़ता। यदि उपाधि चेतन है तो ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा चेतन तत्त्व सिद्ध हो गया। यदि वह जड़ है तो आश्चर्य है कि सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म ने जड़ उपाधि के आगे हथियार डाल दिये।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी? यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय उपाधि लग गई—तो पहले कहाँ थी? कहीं न कहीं होगी तो अवश्य,

---

१. God is light, and in him is no darkness at all.
—The Bible, John 5-2; Cor. 6-14

न होती तो कहाँ से आकर लगती ? क्योंकि असत् कभी भावरूप नहीं हो सकता—'नासतो विद्यते भाव:' । जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी ? क्योंकि गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई न कोई अवश्य रहा होगा । अद्वैतमत में ब्रह्म से अतिरिक्ति कोई द्रव्य नहीं है। स्पष्टत: तथा अनिवार्यत: उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी । परिणामत: जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी उपाधि भी अनादि हुई। अनादि होने से वह अनन्त हो गई और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गई। उपाधि के नित्य तथा ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामत: अज्ञानी रहेगा । सदा अज्ञानी रहने से वह कभी मुक्त न होगा और अविद्या के कारण सदा जन्म-मरण के बन्धन में रहेगा। ऐसे ब्रह्म से तो जीव अच्छा जो कभी न कभी मुक्त होने की आशा कर सकता है।

वस्तुत: अविद्या न सर्वज्ञ ब्रह्म का गुण है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति का। पूर्णविद्या चेतन ब्रह्म का धर्म है, विद्याशून्यता जड़ प्रकृति का और अल्पज्ञता जीवात्मा का जो ईश्वर की भाँति ज्ञानी तो है, किन्तु उसके समान सर्वज्ञ नहीं । इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म से अतिरिक्त जीव की अपनी सत्ता है। न वह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, न उसका अंश और न ब्रह्म की अविद्या का परिणाम। अविद्या का नाश होने पर वह ब्रह्म को प्राप्त कर उसके आनन्द में लीन हो जाता है, पर वहाँ भी उसकी सत्ता बराबर बनी रहती है। अल्पज्ञ होने से जीवात्मा ज्ञान का अर्जन करता है, जबकि सर्वज्ञ होने से परमात्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। दोनों न कभी एक थे, न हैं और न होंगे।

माया

शंकराचार्य ने तो अविद्या और माया में कोई विशेष भेद नहीं किया[1], किन्तु परवर्त्ती अद्वैतवादी दोनों में भेद करते हैं। जहाँ माया ईश्वर की उपाधि है, वहाँ अविद्या व्यक्ति की उपाधि है।[2] विद्यारण्य

१. अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावशेनासकृत्प्रयुक्तत्वात् ।
—शा० भा० २।२।२

२. अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिक: खलु।
मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा: ॥—स्कन्दपुराण

के मत में ब्रह्म में माया का प्रतिबिम्बस्वरूप, अर्थात् उस ब्रह्म में जो विशुद्ध सत्त्वगुण से युक्त है, ईश्वर है, एवं अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब-रूप, जिसमें रजोगुण व तमोगुण भी विद्यमान हैं, जीव अथवा जीवात्मा है।[1] शंकर का भी यही मत है, क्योंकि वह कहते हैं कि "जो सर्वोच्च ब्रह्म है, वह विशुद्ध प्रतिबन्ध के साहचर्य से तब निम्न श्रेणी का ईश्वर बन जाता है जबकि कोई उसके विषय में विचार करता है।"[2] यह जगत् जिसका ईश्वर का निजी आत्मा के साथ सम्बन्ध है, अविद्या के द्वारा निर्मित किया गया है।[3] साधारणतया अद्वैतमत में प्रतीयमान नामरूपात्मक जगत् में अनेकत्व माया का परिणाम है। इसलिए आनुभविक जगत् में जो पाया जाता है, उसकी प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता भले ही हो, परमार्थ में वह सर्वथा मिथ्या है।[4] जिस प्रकार उस माया से, जिसे जादूगर बनाता है, स्वयं उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह माया अयथार्थ होती है, उसी प्रकार सर्वोपरि ब्रह्म भी संसाररूपी माया से असम्पृक्त रहता है।[5] अर्वाचीन वेदान्त का शंकर से आंशिक मतभेद है। वेदान्तपरिभाषा के अनुसार जगत् के विकास का कारण माया है, ब्रह्म नहीं।[6] वाचस्पति मिश्र के अनुसार जगत् का कारण तो ब्रह्म ही है, माया उसकी सहायक है। माया के वश में पड़े व्यक्ति ब्रह्म को जड़ जगत् के रूप में उसे एक विषय समझते हैं और माया उसका कारण बताई जाती है। इस मत में माया को स्वतःसिद्ध मान लिया गया है,[7] किन्तु

---

१. पञ्चदशी।—१६-१७
२. विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्।—छा० उप० ३।१४।२ शा० भा०
३. तुलना करें—**अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया माया।**—शा० भा० १।४।३; और भी देखें—तदेव० २।१।१४; १।३।१९
४. **मायामात्रं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।**
५. **यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते।**—शा भा० २।१।९
६. **प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया न ब्रह्मेति सिद्धान्तः।**
७. **वाचस्पतिमिश्रास्तु जीवाश्रितमायाविषयिकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रय-प्रपञ्चकारेण विवर्त्तमानतयोपादानमिति माया सहकारिमात्रम्।** (सिद्धान्तलेशसंग्रह)। इस मत में अनजाने जीव और ब्रह्म का भेद स्वीकार कर लिया है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म को जगद्रूप समझनेवाले जीव का स्पष्ट कथन किया गया है।

जगत् की जड़ता का कारण विशुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ अन्य होना चाहिए। 'संक्षेपशारीरक' के रचयिता सर्वज्ञात्ममुनि के मत में परब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादानकारण है, क्योंकि क्रिया के लिए माया का होना आवश्यक है। माया की उपाधि के बिना ब्रह्म में कर्तृत्व सम्भव नहीं, इसलिए ब्रह्म तथा माया दोनों के संयोग से जगत् की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म उस जगत् का अधिष्ठान है जिसकी उत्पत्ति परिणामी माया से होती है। ब्रह्म जगत् का विवर्त्तोपादान है, जबकि अविद्या उसका परिणामोपादान है।[2]

यदि अद्वैतवादियों में प्रचलित अर्थों में माया पद को ग्रहण किया जाए तो वे सभी प्रश्न उठते हैं जिनका विवेचन हमने 'अविद्या' के अन्तर्गत किया है। अविद्या की भाँति माया का भी सिर-पैर नहीं मिलता। ऐन्द्रजालिक प्रदर्शन में भी तीन का होना अनिवार्य है—मिथ्याज्ञान करानेवाला ऐन्द्रजालिक, मिथ्याज्ञान के आश्रयरूप दर्शक तथा मिथ्याज्ञान के आधार व आधेय पदार्थ। जब मायावी ऐन्द्रजालिक किसी वस्तु का प्रदर्शन करता है तब भी उसका कोई न कोई आधार या निमित्त अवश्य होता है। वह आधार या निमित्त अभावमात्र नहीं होता। जब वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है तो उसी के सदृश रस्सी, लकड़ी या अन्य किसी लचीली वस्तु को निमित्त बनाकर प्रदर्शन करता है। दर्शकों को सर्प का आभास होता है। अन्य वस्तु में सर्पत्व का यह मिथ्याज्ञान भी उन्हीं को होता है जिनको पहले से वास्तविक सर्प का ज्ञान होता है और वह भी सर्पसदृश वस्तु को देखकर ही। इस प्रकार प्रदर्शित वस्तु का उभार अभाव से न होकर वस्तुतत्त्व से होता है। इसलिए उसका पर्यवसान भी अभाव में नहीं माना जा सकता। ऐन्द्रजालिक दर्शकों को तो मिथ्याज्ञान कराता है, किन्तु उस मिथ्याज्ञान से स्वयं अभिभूत नहीं होता। इसी का नाम माया है। अल्पज्ञ जीव को तो, जादू की कला से अनभिज्ञ दर्शकों की भाँति, भ्रान्ति हो सकती है, परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म त्रिकाल में माया या मिथ्यज्ञान से अभिभूत नहीं हो सकता। न वह अभाव से भाव की उत्पत्ति कर सकता है और न ऐन्द्रजालिकों या मदारियों की भाँति किसी को भ्रमित करने जैसा

२. प्रपञ्चे उभयोरपि मायाब्रह्मणोरूपादानत्वम्, अधिष्ठानतया च ब्रह्मण उपादनत्वम् ब्रह्मविवर्त्तमानतया अविद्या च परिणामतया।

—सिद्धान्तलेशसंग्रह १ पर भाष्य

...ट कार्य कर सकता है ! 'रसो वै सः' वह आनन्दस्वरूप है, इसलिए उसे अपना मनोरंजन करने के लिए भी इस प्रकार के खेल-तमाशे करने की आवश्यकता नहीं है।

ऐन्द्रजालिक अपने से भिन्न पदार्थों के माध्यम से तमाशा दिखाता है, स्वयं तमाशा नहीं बनता। परन्तु अद्वैतमत में तो माया के कारण स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होता है। माया के कारण अपने सर्वज्ञत्व को खोकर वह जीवात्मा के रूप में अल्पज्ञ होकर भ्रान्त हो जाता है, और अपने नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव का परित्याग करके जन्म-मरण के बन्धन में पड़ जाता है तथा दुष्कर्मों में लिप्त होकर अनेक प्रकार के असह्य कष्ट झेलता है। माया के कारण ही वह तथाकथित जीवों को मदारी के समान भ्रमित करने जैसे अशोभनीय कार्यों में प्रवृत्त होता है। तब शंकर का यह कहना कि ब्रह्म स्वयं माया से अभिभूत नहीं होता, कैसे सत्य हो सकता है ? ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल तो दर्शकों का मनोरंजनभर करता है, किसी को हानि नहीं पहुँचाता। परन्तु ब्रह्म की माया तो अनेक अनर्थों की जड़ है। स्वयं ब्रह्म भी उसकी मार से नहीं बच पाता और बहुरूपिया बनकर रह जाता है। अतएव ऐन्द्रजालिक से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

मायावाद के सबसे महान् प्रचारक स्वामी शंकराचार्य एक ओर तो माया को अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) मानते हैं और दूसरी ओर उसकी चर्चा करते नहीं अघाते। यहाँ तक कि अपने अद्वैतवाद का सारा महल उसी की नींव पर खड़ा करते हैं। स्वयं स्पष्ट न होते हुए भी उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते हैं। अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान के अर्थों में माया पद का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। डॉ० प्रभुदत्त शास्त्री कृत 'Doctrine of Maya' के अनुसार विभिन्न रूपों में 'माया' शब्द ऋग्वेद में ७० बार, और अथर्ववेद में २७ बार आया है। यास्क, सायण और दयानन्द सभी इस विषय में एकमत हैं कि वेद में इस शब्द का प्रयोग 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञानविशेष' के अर्थ में हुआ है। उव्वट ने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ 'प्राण-सम्बन्धिनी प्रज्ञा' किया है। निघण्टु (३।९) में भी इसका अर्थ प्रज्ञा अथवा ज्ञान लिखा है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार 'वेद में जगत् के मिथ्या होने का कहीं उल्लेख नहीं, वहाँ माया शब्द शक्ति का वाचक है।' रामानुजाचार्य कहते हैं—'मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची' माया शब्द आश्चर्यवाची होने से स्वप्न की सृष्टि

आश्चर्यमयी है। वेदान्तदर्शन में केवल एक स्थान (३।२।३) पर माया शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकराचार्य ने 'मायैव सन्ध्ये सृष्टिः' कहकर वहाँ माया शब्द का प्रयोग 'काल्पनिक' अर्थ में किया है। वहाँ स्वप्न के प्रसंग में गृहीत दोनों अर्थों में कोई विसंगति नहीं है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपने ग्रन्थ **'तत्त्वमसि'** में किया है।

स्वामी विद्यानन्दजी की अन्य रचनाएँ

१. अनादि तत्त्व दर्शन—पुरस्कृत
२. वेद मीमांसा—पुरस्कृत
३. अध्यात्म मीमांसा
४. तत्त्वमसि—पुरस्कृत
५. मैं ब्रह्म हूँ
६. आर्यों का आदि देश—इंगलिश तथा नौ प्रान्तीय भाषाओं में
७. राजधर्म—सम्पादित
८. स्वराज्य दर्शन—पुरस्कृत
९. भूमिकाभास्कर—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का विस्तृत भाष्य—प्रेस में
10. Vedic Concept of God
11. Theory of Reality
12. The Brahmasutra—a new approach
13. The Anatomy of Vedanta
14. Original Home of the Aryans
15. Poltical Science—Ed.
16. The Age of Shankara—Tr.

ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान्, यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन शैली का अपना वैशिष्ट्य है। पूर्वाश्रम में प्रिन्सिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने ५० वर्ष तक शिक्षाक्षेत्र में कार्य किया है। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट ग्रेजुएट कालिजों के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं।
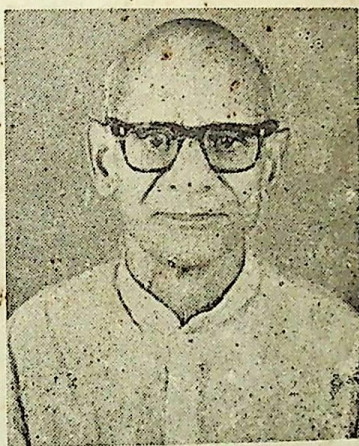
आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के राष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। कुछ समय तक आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्यासभा (सेनेट) तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा व दिल्ली की अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से आपका निकट सम्बन्ध रहा है। आजकल आप माडल टाउन (डी० १४/१६) दिल्ली में निवास करते हैं।